दलित साहित्य की अवधारणा में रंगमंच

दलित साहित्य की अवधारणा में रंगमंच

मोहनदास नैमिशराय

भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान
राष्ट्रपति निवास, शिमला

प्रथम संस्करण 2017
सर्वाधिकार सुरक्षित

© भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला 2017

प्रकाशकः
सचिव,
भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान
राष्ट्रपति निवास
शिमला 171005

टाइपसेटः
सांई ग्राफिक डिज़ाइन
नई दिल्ली 110055

मुद्रकः
पर्ल ऑफसेट, कीर्ति नगर, नई दिल्ली

समता और सम्मान हेतु संघर्षशील
नाटककारों और रंगकर्मियों को
समर्पित

अनुक्रम

प्राक्कथन	ix
1. रंगमंच (थियेटर) की आरम्भिक स्थिति	1
2. लोक नाट्य / नौटंकी	21
3. हिन्दी दलित नाटक	53
4. मराठी रंगमंच का इतिहास और दलित नाटककारों की उपलब्धि	89
5. दलित रंगमंच के विकास में योगदान	112
6. सवर्ण नाटककारों / रंगकर्मियों की दलित विषयक नाटकों में हिस्सेदारी	133
7. ट्रीटमेंट	152
8. हिन्दी मराठी दलित रंगमंच तुलनात्मक अध्ययन	167
9. अंतत	174

प्राक्कथन

जीवन का यह मनोवैज्ञानिक पहलू है कि हर व्यक्ति अपनी स्मृति में जीना चाहता है, इसलिए कि अतीत से उसके अटूट रिश्ते होते हैं। फर्क सिर्फ इतना है कि हमारी स्मृतियों का विस्तार कितना है? वे स्मृतियाँ क्या महज हमारी हैं या समाज/जाति/वर्ग/या कुनबे और कबीले की। उन स्मृतियों की अस्मिता कैसी है, उनके सामाजिक सरोकार कितने हैं?

उदाहरण के लिए स्वयं मेरी स्मृतियों में पहले मेरा मिट्टी से बना घर रहा। फिर आंगन में परिवार के सदस्य के रूप में खड़ा हुआ नीम का पेड़। फिर पेड़ की छांह तले दादा–दादी के किस्से, कहानियाँ, माँ की यादें जो पल–पल के जीवन में रची–बसी रहीं। माँ मुझे बचपन में ही छोड़ कर चली गई थी। ताई मां और बा, भाई, बहिन और भाभियों का प्यार बाद में मिला। घर के बाहर देखें तो पड़ोसी, गली में कली पीती हुई बतियाती औरतें, नीम के पेड़ की डालियों, शाखाओं पर बैठी चहचहाती चिड़ियाएँ, उसके भी आगे जाओ तो सुबह शाम मन्दिर/मस्जिदों से आती आवाज़ें, रिक्शा साईकिल की घंटियों की टुन–टुन, इक्के में जुते घोड़े, घोड़ियों की हिनहिनाहट या फिर पुलिस चौकी/थाने में गिड़गिड़ाते/मिमियाते लोगों की कंपित आवाज़ें। इससे भी थोड़ा आगे खेत/कुंए/नाले/बंबे/नहरों/नदियों के अपने–अपने आकर्षण से भरे चित्र जो मेरे भीतर अभी भी मौजूद हैं। मैंने उन्हीं सब के आसपास अपने–आप को जिया है।

मैं अगर कहूँ कि हर एक लेखक तथा रंगकर्मी के भीतर उसकी स्मृतियों का दबाव होता है तो गलत नहीं होगा। थियेटर और लेखन

के प्रति मेरे अनुराग का कारण भी वही रहा है। उसे विकसित किया सांग, ढोला तथा नोटंकी ने मेरे मामा जीराम और चेतराम जी (मोदी नगर से) स्वयं सांगी थे। मेरठ शहर में बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर तथा गुरू रविदास जयंती के अवसर पर झांकियाँ निकलती थी, जिनमें रथों पर हम बच्चों को सजा कर बैठाया जाता था। ऐसे समय पर संवाद कम होते थे। वयस्क होते–होते मैं साथियों के साथ नाटक मण्डली से भी जुड़ गया। ये नाटक हमारी अपनी बस्ती के साथ सवर्ण बस्ती में होते थे। लगभग सभी का विषय इतिहास से जुड़ा होता था। मुझे अभी भी याद है। एक नाटक 'अमर सिंह राठौड़' नाम से होता था। उसकी कई प्रस्तुतियां मेरठ शहर में हुईं। वैसे हमारी बस्ती में दो कार्य नियमित रूप से होते थे। पहला हमारे पड़ोसी लगभग प्रतिदिन बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर पुस्तकालय एवं वाचनालय में सुबह शाम बुद्ध वंदना करते थे, दूसरा आल्हा–ऊदल की कथा सुनाते थे। जो एक तरह से काव्यात्मक नाटक का ही रूप होता है। बाद में मुझे पता चला, वे (आल्हा–ऊदल, बनाफल आदि योद्धा) हमारे ही पुरखे थे। उनकी बहादुरी के किस्से हमें रोमांचित करते थे। बिहार में राजा सल्हेस का भी किस्सा लगभग इसी तरह का है।

मेरठ से दिल्ली आने पर मेरे भीतर की रचनाधर्मिता का विस्तार होता है। मेरठ शहर में उन दिनों अकेला 'मुक्ताकाश' रंग–मंडल था, जबकि दिल्ली में रंगमंडल तथा रंगकर्मियों की संख्या असीमित थी। दिल्ली में रहते हुए हैलो कामरेड, क्या मुझे खरीदोगे, अदालतनामा, डेढ़ इंच मुस्कान आदि नाटकों की स्क्रिप्ट लिखने से लेकर उनकी प्रस्तुति करने के भी अनुभव हुए।

देश की राजधानी में रहते हुए और भी बहुत से अनुभव हुए। दिल्ली में हो रहे तब के थियेटर तथा उससे जुड़ी गतिविधियों को देखते/समझते हुए कुछ अजीब भी लगा। मन में बार–बार सवाल उठते। अभिजात वर्ग के ये रंगकर्मी आखिर लोगों को क्या संदेश देना चाहते हैं। वे कौन से नाटक कर रहे हैं, और क्यों? उनके पात्र किस दुनिया से आते हैं? उनके दर्शक कौन हैं, वे किस परिवेश के हैं? उनमें कुछ तो अंग्रेजी दा हैं, जिन्हें अपने पड़ोसी के बारे में

भी मालूम नहीं, जिन्हें अपने देश और उसकी संस्कृति के बारे में भी पूरी तरह से मालूम नहीं, पर स्थिति यह थी कि वे अफलातून बन कर मंच पर छाये रहते थे। क्योंकि उनके अपनी जातीय बंधुओं से मेल–मिलाप थे। जो सरकारी और गैर–सरकारी स्तर पर उन्हें मदद भी करते थे। ऐसा नहीं था कि उन दिनों दिल्ली में दलित समाज से नाटककार एवं रंगकर्मी न थे। कुछ थे, पर सवर्ण रंगकर्मियों के गुटों से थोड़ा अलग–थलग थे। 70 के दशक तक उनकी खास पहचान नहीं बनी थी। वे कहीं वामपंथी रंगकर्मियों के साथ तो कहीं अम्बेडकरवादी विचारधारा के तहत जन–जागृति के लिए अपनी–अपनी भूमिकाएं निभा रहे थे। हां वे प्रोफेशनल तो हरगिज न थे।

उन्हीं दिनों मन से यह सवाल भी उठता कि वे बार–बार मोहन राकेश, सुरेन्द्र वर्मा, विजय तेंडुलकर और गिरीश कर्नाड के नाटक ही क्यों करते रहे हैं? यह बात भी ज़ेहन में आती थी कि वे अंग्रेज़ी, रूसी, फ्रेंच भाषाओं में लिखे नाटकों का ही मंचन क्यों करते हैं? दुःखद बात यह भी थी कि उनके अधिकांश नाटकों की प्रस्तुतियां तो बिल्कुल उस महिला की तरह हो गयी थी, जिसके जिस्म से उसके अपने कपड़े ही नदारद हों, साथ ही बदन पर रंग–बिरंगी थेगलियां भी चिपकी हों। रंगमंच का स्वरूप तेज़ी के साथ बदल रहा था। अगर यह भी कहा जाए कि थियेटर फिल्म से प्रभावित होने लगा था तो गलत नहीं होगा। इसके इतर थियेटर महंगा भी होने लगा था। बड़े–बड़े सेट्स लगाने से लेकर लाइट इफेक्ट्स तक की शैली तेजी के साथ बढ़ने लगी थी।

कुछ नाटककार कविताओं/कहानियों को लेकर रंगमंच हेतु उनकी स्क्रिप्ट तैयार करते रहे। इस प्रक्रिया में लेखक को बिना बतलाए या जानकारी दिये उनकी मूल रचना से वे बलात्कार/व्याभिचार जैसा कार्य करते रहे। रंगमंच के क्षेत्र में जिसे 'इप्रूवाइज़िंग' कहा जाता है। तब तक वह सब मेरे जैसे रंगकर्मी की समझ में आ चुका था, पर सामाजिक सरोकारों से जुड़े नाटककारों तथा रंगकर्मियों के लिए यह बात बेमानी थी और अभी भी है।

80 के दशक में मेरा बंबई जाने का सिलसिला शुरू हुआ। उन्हीं

दिनों मैंने बंबई में शबाना आज़मी, नादिरा बब्बर, प्रेमानंद गज्वी, दिनेश ठाकुर, टैक्सास गायकवाड़ आदि प्रसिद्ध रंगकर्मियों से बातचीत कर ''बंबई में लड़खड़ाता हिन्दी रंगमंच'' विषय पर आलेख तैयार किया था। जो बाद में नवभारत टाइम्स, बंबई संस्करण में छपा था, उन दिनों लखनऊ में वरिष्ठ कथाकार मुद्राराक्षस हिन्दी नाटक की ठहरी हुई परम्परा पर विचार कर रहे थे। इस तरह पिछली शताब्दी के अंतिम दशक तक मेरा बंबई जाना बराबर होता रहा। इसी दौरान बंबई में पृथ्वी थियेटर तथा दिल्ली के मंडी हाउस में थियेटर की दुनिया में मैंने कुछ प्रस्तुतियों में शामिल होकर बहुत–कुछ सीखा भी। 2 दिसम्बर 2001 के राष्ट्रीय सहारा में ''कोर्ट मार्शल के बहाने'' अपने लेख में मुद्राराक्षस ने हिन्दी नाटक पर टिप्पणी की थी। पर देखा जाए तो हिन्दी क्षेत्र में ठहरी हुई परम्परा के तहत ही अधिकांश नाटक होते रहे हैं। और दर्शकों को वैसी रूढ़ियाँ तथा प्रथाओं को ओढ़ने–बिछाने के लिए मजबूर भी करते रहे हैं। हालांकि बीच–बीच में कुछ प्रस्तुतियां ऐसी भी होती रहीं, जिनसे विद्रोह की मंद आंच दहकती भी रहीं पर चंद नाटकों के अलावा हिन्दी नाटकों में दर्शकों को उद्वेलित करने की ऊर्जा नहीं थी।

उदाहरण के लिए स्वदेश दीपक द्वारा लिखित 'कोर्ट मार्शल' जहाँ दलित पक्ष की स्थितियों का एक गहरा और संवेदनशील विवेचन है वहीं दलितों को अन्याय के खिलाफ बहुत कुछ करने को बाध्य भी करता है। सवर्ण समुदाय का व्यक्ति सेना में भी कैसे जातिवादी मानसिकता रोपता है इसकी एक साफ तस्वीर 'कोर्ट मार्शल' नाटक में देखने में आयी है। हिन्दी रंग जगत में समाज बोध तो सिरे से गायब रहा है, पर वर्ण भेद का समाजशास्त्र शिद्दत के साथ अकेले इसी नाटक में सामने आता है। दलितोन्मुखी नाटककार प्रेमानंद गज्वी के मराठी नाटक 'किरवंत' में भी वर्ण–व्यवस्था का सटीक विश्लेषण है। जहाँ ब्राह्मण जाति का ही एक सदस्य ब्राह्मण जाति के दूसरे सदस्य के साथ घृणा जैसा व्यवहार करता है।

इससे पूर्व इतिहास में जाएँ तो उत्तरी भारत के प्रखर कवि, नाटककार तथा कथाकार स्वामी अछूतानंद की बहुत सी रचनाओं का विवरण हमें मिलता है उनके महत्वपूर्ण नाटक ''रामराज्य न्याय''

से हमें तथाकथित सुसंस्कत राजा राम के दलित उत्पीड़न के अनेक आयाम मिलते हैं। बाद के दौर में वरिष्ठ नाटककार माता प्रसाद, बिहारी लाल हरित, आर.बी. त्रिशरण आदि ने हिन्दी क्षेत्र में दलित नाट्य सम्बन्धी अभाव की पूर्ति की। मेरी अपनी पीढ़ी के आसपास के दलित नाटककारों तथा रंगकर्मियों में ओमप्रकाश वाल्मीकि, रत्न कुमार सांभरिया/सुजाता/यशवंत निकोसे, सूरजपाल चौहान, कर्मशील सिंह भारती, रूपनारायण सोंनकर, आन्ध्रा से गद्दर, नागपुर से संजीव जींवने, मुंबई से प्रेमानंद गज्वी, पुणे से रामनाथ चव्हाण, प्रो. रतन लाल सोनाग्रे, नासिक से अविनास डोलस, छत्तीसगढ़ से मदन निषाद, म.प्र. से देवदास बंजारे आदि हैं। यह सूची हमारे लिए जितनी लंबी है सवर्णों की थियेटरी दुनिया के लिए बहुत छोटी।

शोध के दौरान मुझे बहुत सारे अनुभव हुए। उनसे यह महसूस हुआ कि अभी भी सवर्ण रंगकर्मियों तथा दलित रंगकर्मियों के बीच दीवारें हैं। कुछ ने तो उन दीवारों को और भी मजबूत बनाया है। हालांकि कहीं दीवारे गिराने की कोशिश भी हुई, लेकिन वे कोशिशें नाकाफी साबित हुई। कुछ सवर्ण रंगकर्मी तो दलित शब्द से ही परहेज करते रहे। यह भी देखा गया है कि विशेष वर्ग के लोग भी व्यक्ति ही नहीं व्यक्ति के विचार से भी परहेज करते हैं। इसलिए भी सवर्ण रंगकर्मियों की दुनिया का दलित रंग कर्मियों से उस तरह के रिश्ते बन नहीं पाए जैसे बनने चाहिए थे। बहुत से सवर्ण लेखक/नाटककार तथा समीक्षक अलगाव को अपने–अपने तरीके से प्रस्तुत करते रहे हैं। इसका सबसे बड़ा कारण यह कि थियेटर की दुनिया में भी वे स्वयं तो वर्ण व्यवस्था के दबाव को झेलते ही हैं बल्कि उन्हीं मूल्यों, परम्पराओं, संस्कारों को दलितों पर भी लादना चाहते हैं। उनके लिए थियेटर एक प्रयोग है, वेद पुराण और मनुस्मृति बांचने का। वे मुक्त समाज नहीं चाहते, बंद पिंजरों का समाज चाहते हैं, फर्क सिर्फ इतना कि इक्कीसवीं शताब्दी में पिंजरों का स्वरूप बदल गया है।

दलित नाटक और रंगमंच हिन्दी क्षेत्र में जहां सवर्णों के लिए उदासीनता का प्रतीक है वहीं कुछ के लिए प्रेरणा और जिज्ञासा का विषय भी है, कहीं जानकारी का अभाव है तो कहीं जानबूझ कर

अपने–आपको भ्रम में रखने वाली बात भी है। सवर्ण समाज के कुछ बुद्धिजीवी, अखबारों के नुमाइंदे और नाटक तथा कला अकादमी से जुड़े साहित्यकार, नाटककार तो वाद–विवाद करने पर उतारू हो जाते हैं। और दलित नाटककारों/रंगकर्मियों को जातिवादी घोषित कर देते हैं। उन्हीं के जातीय बंधु दलित नाटक को खारिज भी कर देते हैं।

उन सब में एक वर्ग ऐसा भी है, जो दलित रंगमंच का समर्थन तो करता है लेकिन उसमें अपनी घुसपैठ बनाना चाहता है। वहाँ हिन्दू मापदण्ड स्थापित करने का प्रयास करता है और दलितों पर अपना विचार थोपना चाहता है। यह सब करते हुए वह लोकनीति/लोक नाट्य/लोक कला आदि–आदि का सहारा लेता है। दलित नाटक की संरचना और उद्देश्य को स्पष्ट करने तथा गैर दलितों द्व ारा दलितों के जीवन की विभिन्न परिस्थितियों पर लिखे जा रहे नाटकों के पीछे के तत्व का विश्लेषण करते हुए एक अलग अध्याय 'ट्रीटमेंट' नाम से रखा गया है जिससे एक ही विषय पर दलित ओर गैर दलितों के द्वारा लिखे गये नाटकों के पीछे की भावना तथा मानसिकता को पाठक समझ सकें।

नाटक और रंगमंच के स्वभाव तथा उनके अंतर्संबंधों पर मुझे कुछ कहना है। असल में नाटक और रंगमंच का गहरा सम्बन्ध है। नाटककार एवं सूत्रधार एक–दूसरे के पूरक होते हैं। नाटककार अपने अनुभव के सहारे अपनी भावानुभूतिमूलक रचनात्मक अभिव्यक्ति प्रस्तुत करता है जबकि सूत्रधार नाटककार की इसी भावानुभूति मूलक रचनात्मक अभिव्यक्ति के आधार पर रंगमंच पर प्रस्तुत करता है। रंगमंच पर प्रदर्शित अभिव्यक्ति उसकी अपनी होती है। किसी भी नाट्यकृति की सफल मंच प्रस्तुति तभी संभव है जब नाटककार का सूत्रधार/निर्देशक और रंगकर्मियों के साथ सामंजस्य स्थापित हो। उनके विचारों में तालमेल हो। नाटककार जो भी कुछ अपनी कृति में कहना चाहता है, उससे एक सीमा तक निर्देशक सहमत हो। यहाँ मैं यह बताना जरूरी समझता हूँ कि दलित रंगमंच में सिर्फ कला से काम नहीं चलता। वहाँ अस्मिता का सवाल होता है। साथ ही आन्दोलन की मौजूदगी भी होती है। परिणामस्वरूप दलित

नाटककार या रंगकर्मी के भीतर सामाजिक विषमताओं के कारण आक्रोश होता है और इसके इतर बहुजन हिताय बहुजन सुखाय का दर्शन भी होता है। दलितोन्मुखी नाटककार संजय जीवने और स्वदेश दीपक की तरह वह जलता है, पर दूसरों को रास्ता दिखाता है। संक्षेप में कहें तो इस नाट्य आलोच्य कृति के पीछे भगवान बुद्ध के मानवीय दर्शन के साथ डॉ. अम्बेडकर का वह संघर्ष है, जिससे प्रेरित होकर दलित नाटक और रंगमंच का सिलसिला आगे बढ़ा है।

इस कृति में ऐसे नाटकों को भी शामिल किया गया है जिनका मंचन नहीं हुआ दूसरी तरफ उन प्रस्तुतियों को भी लिया गया है, जो पुस्तक रूप में नहीं आई हैं, लेकिन दलित नाटक या रंगमंच के लिए उनकी पूरी ईमानदारी रही। एक रंगकर्मी होने के नाते वे शिद्दत के साथ अपने इस सामाजिक बदलाव के अभियान में जुड़े रहे। यहाँ विशेष रूप में मैं बताना चाहूंगा कि दलित अस्मिता वाले नाटकों पर ही इस शोध सम्बन्धी पुस्तक में अधिक ज़ोर दिया गया है। चाहे वे मराठी के नाटक हों या हिन्दी के। वैसी कृतियां रास्ता दिखाने वाली हों, भटकाने वाली नहीं।

चूंकि मैं भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान में 2007 से 2009 तक अध्येता के रुप में शोधरत रहा इसलिए 2009 तक और उससे पूर्व की नाट्य सम्बन्धी विवरण शामिल किये गये हैं।

अंततः नाट्य सम्बन्धी इस रचना से मेरी उम्मीद होगी कि जहां मराठी और हिन्दी दलित नाटककार कुछ विशेष बिंदुओं पर सहमत होंगे वही सवर्ण नाटककार/रंगकर्मियों के साथ समीक्षक भी इस बारे में पुनर्विचार करेंगे।

ekgunkl ufe'kjk;
अध्येता
भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान
राष्ट्रपति निवास, शिमला

रंगमंच (थियेटर) की आरम्भिक स्थिति

आज जबकि रंगमंच हमारे सामने हजारों रंग रूप में प्रस्तुत है। ऐसे समय पर यह जानना जरूरी हो जाता है कि रंगमंच की आरम्भिक स्थिति कैसी रही होगी, कौन उसके सूत्रधार रहे होंगे, नाटक मण्डली का क्या स्वरूप रहा होगा। फिर नाटककारों और रंगकर्मियों के सामाजिक सरोकार भी होंगे या सिर्फ समय बिताने और मनोरंजन के आदान–प्रदान हेतु वे अपने–आपको नाटकीय मुद्रा में लाते होंगे। इसी बारे में यहां एक सवाल और भी उभरता है कि बीते हुए हजारों वर्षों की राजनैतिक उथल–पुथल से नाटक विधा या प्रवृत्ति किस तरह प्रभावित हुई होगी। सवालों के साथ जिज्ञासाओं का उभरना भी लाजमी है। गांव से लेकर शहर और नगरों से महानगरों की यात्राओं ने आखिर रंगकर्मियों को किस मुकाम पर पहुँचाया होगा। उनके साथ जीविकाउपार्जन की दृष्टि किस रूप से जुड़ी होगी। निश्चित ही इन सब सवालों/जिज्ञासाओं के उत्तर दिलचस्प होने के साथ सुखद और दुःखद दोनों ही रहे होंगे।

साहित्य की जितनी विधाएं हैं, उनमें नाटक प्रभावपूर्ण विधा है। नाट्य–कर्म किसी भी भाषा के लिए सबसे आवश्यक रचना–कर्म है। नाट्यशास्त्र के अनुसार तो नाटक, मानव की अनुकरणात्मक प्रवृति का प्रतिफलन है,[1] प्रभाकर श्रोत्रिय[2] के विचार में वास्तव में रंगकर्म सचेत रचना–कर्म है जिसकी नैसर्गिक प्रवृत्ति युगानुरूप लोक कल्याण की है। यही कारण है कि नव–जागरण और स्वाधीनता–संघर्ष काल में हिन्दी की सर्जनात्मक चेतना और क्रांतिदर्शिता मुख्य रूप से नाटक के माध्यम से प्रकट हुई थी। रंगमंच और दर्शक के बीच सिर्फ संवाद ही नहीं होता बल्कि रंगकर्मी सामने बैठे नाटक

प्रेमियों से तादात्मय स्थापित भी करता है। युगों–युगों से नाटक और नाटककारों का यही स्वभाव रहा है। डॉ. कालीचरण स्नेही[3] ने नाटक को एक जीवंत अनुभव कहा है। जहां तक दलित थियेटर की बात है, उसके बारे में कौशल्या बैसंत्री लिखती हैं कि निश्चित ही नकारे हुए मानवीय हक को प्राप्त करने के लिए दलित रंगभूमि ने महत्वपूर्ण कार्य किया है।

महाराष्ट्र में जहां ज्योतिबा फुले, किसन फगूजी बनसोडे और बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर के अवतरण से मराठी भाषा (मराठी दलित साहित्य) में प्रतिरोध के स्वर उभरे वहीं साहित्य की महत्वपूर्ण विधा रंगमंच के माध्यम से भी समता और सम्मान हेतु बुद्धिजीवियों के बीच गूंज हुई। हिन्दी में भी वैसी गूंज हुई, लेकिन थोड़ा अलग तरह से। आईये देखते हैं रंगमंच का इतिहास क्या कहता है?

वैसे भारतीय नाटय–परम्परा बहुत प्राचीन है। भारतीय साहित्य समीक्षा में प्राचीनतम होता हुआ भी नाट्यशास्त्र अद्वितीय प्रौढ़ता के कारण सुप्रसिद्ध है।[4] ऐसा कहा जाता है कि भरतमुनि ने सबसे पहले 'नाट्यशास्त्र' की रचना कर भारतीय नाट्य–परम्परा को एक विधिवत और शास्त्रीय रूप प्रदान किया। बकौल डॉ. कैलाश प्रकाश[5] अपने उद्भव काल में नाटक और यज्ञ के बीच अभिन्न संबंध का प्रमाण हमें नाटयशास्त्र में भली–भांति उपलब्ध होते हैं। साहित्यशास्त्र का आदि ग्रंथ नाट्यशास्त्र बताया गया है।

भारतीय नाट्यशास्त्र के उद्भव के बारे में अनगिनत कथाएं हैं, क्योंकि हर कार्य और कारण के पीछे कथाएं जुड़ी हैं। संक्षेप में कहें तो नाटक की प्रवृत्ति/स्वभाव और उसका उद्देश्य इन सबके साथ ऋषियों/मुनियों तथा देवी–देवता मान लिये गये चतुर–चालाक लोगों के प्रपंच भी है। इन्हीं के साथ सैंकड़ों कहानियां जुड़ी हैं। कहानियाँ ही नहीं बल्कि बहुत सारे आडम्बर और कर्मकाण्ड भी सदियों तक हमारी परछाई की तरह साथ–साथ चलते रहे। जिनके परिणामस्वरूप नाटक नाटक न होकर स्वयं वेद/पुराण और स्मृतियां बन गये।

यूं नाटक को पांचवां वेद बतलाया गया है। हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं कि वेदों से भिन्न पांचवां वेद होते हुए भी 'नाट्य–वेद'

का उपदेश दिया। इस प्रकार यह 'नाट्य–वेद' के मुख्य अंश चारों वेदों से ही लिए गए हैं।[6]

हिन्दू धर्म और समाज की परम्परा यह है कि किसी भी नये शास्त्र के प्रवर्त्तन के समय उसका मूल वेदों में अवश्य खोजा जाता है। अधिकांश हिन्दू मनीषी किसी भी ज्ञान को स्वतन्त्र उद्भावना नहीं मानते। 'नाट्य' की उत्पत्ति और विचारक की कथा में भी यह प्रवृत्ति दिखाई देती है। इसलिए प्राचीन और मध्यकाल की भी अधिकांश नाट्य पुस्तकों तथा मंच पर उनकी प्रस्तुतियों में वे तमाम परम्पराएं साथ–साथ चलती हैं, जिनका निषेध दलित साहित्य में किया गया है।

नाट्य पंचम वेद है। अन्य चार वेदों के होते हुए इस नाट्यवेद की क्या आवश्यकता है? यहां विशेष उल्लेख करने वाली बात यह है कि नाट्य को भी ब्रह्मनिर्मित बता दिया गया।[7] चारों वेदों से क्रमशः पाठ्य, गीत, अभिनय एवं रसों को संगृहीत कर नाट्यवेद की अवतारणा ब्रह्मा ने की। सवाल फिर उठता है कि हर कार्य के पीछे ब्रह्मा ही क्यों रहा। फिर व्यक्ति ने क्या किया? वे कौन सी ऐसी बातें थीं जो इस शास्त्र के प्रवर्तित होने के पहले वैदिक आर्यों में प्रचलित थीं और कौन–सी ऐसी बातें हैं जो नयी हैं? फिर जो नई हैं उनकी प्रेरणा कहां से मिली? क्या यवन आदि विदेशी जातियों की परम्पराओं से भी कुछ लिया गया, क्या यहां की जातियों में प्रचलित प्रथाओं से उन्हें ग्रहण किया गया?[8]

प्रो. लेबी ने यह भी बताया था कि वैदिक काल में गाने की प्रथा काफी प्रौढ़ हो चुकी थी। इतना ही नहीं, 'ऋग्वेद' (1/92/4) में ऐसी स्त्रियों का उल्लेख है, जो उत्तम वस्त्र पहनकर नाचती थीं और प्रेमियों को आकृष्ट करती थीं। 'अथर्ववेद' में (7/1/41) पुरुषों के भी नाचने और गाने का उल्लेख है।[9] श्री ए.बी. कीथ ने कार्य–कारण–सम्बन्ध को देखते हुए इस बात में कोई कठिन आपत्ति उपस्थित होने की संभावना नहीं देखी कि ऋग्वेद–काल में लोग ऐसे नाटकीय दृश्यों को जानते थे, जो धार्मिक हुआ करते थे और जिनमें ऋत्विक लोग स्वर्गीय घटनाओं का पृथ्वी पर अनुकरण करने के लिए देवताओं और मुनियों की भूमिका ग्रहण करते थे।[10]

ऋग्वेद में पाये जाने वाले सूक्तों (जो संख्या में लगभग पन्द्रह हैं) के संवाद–तत्व से नाटक की उत्पत्ति का सम्बन्ध जोड़ लेना कम भ्रमपूर्ण नहीं है। मैक्समूलर और लेवी ने इन्हें यज्ञ के समय गाए जाने वाले सूक्त कहा है। किन्तु दास गुप्ता और मि. डे के मतानुसार यज्ञों से इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। यम–यमी, इन्द्र–इन्द्राणी आदि के संवाद परम्परानुकूल धार्मिक गीत भी नहीं कहे जा सकते। इनके विषय पौराणिक और निजंधरी कथाएँ हैं। ऋग्वेद के मंत्रों को, धार्मिक गीतों और नृत्यों से सम्बद्ध कर, नाटकों के मूल में स्वीकार कर लेना तर्कसंगत नहीं है। ऋग्वेद में सभी कुछ उत्सवों और धार्मिक संस्कारों से सम्बद्ध नहीं माना जा सकता। फिर ऋग्वेद के मंत्र पाठय हैं, गेय नहीं।

नाटक की दैवी उत्पत्ति सम्बन्धी धारणा की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप लौकिक उत्पत्ति का सिद्धान्त सामने आया। पिशेल ने पुत्तलिका और छाया–नाटक को संस्कृत नाटक का पूर्व रूप निश्चित किया, किन्तु दासगुप्ता और मि. डे ने दोनों को नाटक का परवर्ती रूप मानकर पिशेल की मान्यता को स्वीकार नहीं किया है। महाभारत में पुत्तलिका का जो निर्देश मिलता है, उसकी तिथि के सम्बन्ध में कुछ कहा नहीं जा सकता। छाया नाटक के ठीक–ठीक अर्थ के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। पातन्जल महाभाष्य में भी इसका अर्थ स्पष्ट नहीं हो पाया है। संस्कृत रूपकों के अनेक भेदों में इसका उल्लेख न होना इसको और भी संदिग्ध बना देता है।[11]

यद्यपि उपलब्ध तथ्यों के आधार पर संस्कृत नाटकों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में हम किसी निर्णय पर नहीं पहुँच सकते, फिर भी इसमें कोई संदेह नहीं कि संस्कृत नाटक धर्म तथा उसके विभिन्न सम्प्रदायों से बराबर प्रेरणा ग्रहण करते रहे हैं। राम–कृष्ण के कथा–स्त्रोतों से नाटकीय विषयवस्तु का ग्रहण किया जाना, अभिनय के पूर्व कुछ धार्मिक कृत्यों का होना, भरत के नाट्यशास्त्र का 'शिव का तांडव' और 'लास्य नृत्य' को पुरस्कर्ता स्वीकार करना, नाटक के प्रारम्भ में नांदी का प्रवेश आदि नाटकों का धार्मिक प्रभावों से बहुत कुछ सम्बद्ध कर देते हैं। जैन और बौद्ध धर्म के नाटक सम्बन्धी दृष्टिकोण के आधार पर भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। रामायण–महाभारत

के पाठों के सम्बन्ध में संदेह होने के कारण उनके अभिनेता और अभिनेयता सम्बन्धी संदर्भों को प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। फिर भी नाटक पर इनके गहरे प्रभाव को अस्वीकार करना असंगत है।

अनुमान और कल्पना को छोड़ देने पर संस्कृत नाटकों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, किन्तु इतना तो निर्विवाद है कि कविता की अपेक्षा नाट्यकला का विकास कुछ पहले हो चुका था।

भारतीय नाट्यशास्त्र के आरम्भ में एक कथा दी गई है जिसका संक्षिप्त इस तरह से है – भरत मुनि शांत भाव से बैठे हुए थे, आत्रेय प्रभृति मुनियों ने उनसे जाकर प्रश्न किया कि आपने जो –वेदसम्मित नाट्य–वेद' ग्रंथित किया है, वह कैसे उत्पन्न हुआ और किसके लिये बनाया गया। बताने की कृपा करें। भरतमुनि ने बताया कि वैवस्वत मनु के समय त्रेता युग प्राप्त हुआ और काम तथा लोभ वश लोग ग्राम–धर्म की ओर प्रवृत्त हो गए तथा ईर्ष्या और क्रोध से मूढ़ होकर वे अनेक प्रकार के सुख–दुखों के शिकार होने लगे। लोकपालों द्व ारा प्रतिष्ठित जम्बूद्वीप जब देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और नागों से समाक्रान्त हो गया, तब इन्द्र प्रभृति देवताओं ने ब्रह्मा से जाकर कहा कि ''हे पितामह, हम ऐसा कोई खेल चाहते हैं जो दृश्य भी हो और श्रव्य भी हो। पर जो वेद–व्यवहार है वह शूद्र जाति को सिखाया नहीं जा सकता, अतएव आप सब वर्णों के योग्य किसी पांचवें वेद की सृष्टि कीजिए।'' ब्रह्मा ने 'एवमस्तु' कहकर सब देवों को विदा किया, चारों वेदों को समाधिस्थ होकर स्मरण किया ओर संकल्प किया कि मैं धर्म, अर्थ और यश का साधन, उपदेशयुक्त, शास्त्र–ज्ञान–समन्वित, भावी जनता को समस्त कर्मों का अनुदर्शन कराने वाला, समस्त शास्त्रार्थों से युक्त, सब शिल्पों का प्रदर्शक, इतिहासयुक्त 'नाट्य' नामक वेद बनाऊँगा। उन्होंने 'ऋग्वेद' से पाठ्य–अंश लिया, 'सामवेद', से गीत का अंश, 'यजुर्वेद' से अभिनय और 'अथर्ववेद' से रसों का संग्रह किया। 'नाट्य–वेद' का निर्माण करके ब्रह्मा ने प्रचार करने के उद्देश्य से उसे देवताओं को दिया। परन्तु इन्द्र ने उनसे निवेदन किया कि देवता लोग इस नाट्य–कर्म के ग्रहण, धारण, ज्ञान ओर प्रयोग में असमर्थ हैं। इस काम को वेदों

के रहस्य जानने वाले मुनियों को देना चाहिए। ब्रह्मा ने इसके बाद भरत मुनि को बुलाकर आज्ञा दी कि तुम अपने सौ पुत्रों के साथ इस 'नाट्य–वेद' के प्रयोक्त बनो। उन की आज्ञा पाकर भरतमुनि ने अपने सौ पुत्रों को इस 'नाट्य–वेद' का उपदेश किया। इस प्रकार यह 'नाट्य–वेद' पृथ्वी–तल पर आया। मुद्राराक्षस लिखते हैं कि हिन्दुस्तान में यह घटना कोई सवा–दो, ढाई हजार बरस पहले हुई। यही वह युग था जब इस देश में आक्रान्ता ब्राह्मण समाज ने शासन को हर स्तर पर जमा लेने के बाद उसे देश और समाज के संस्कारों में उतारना शुरू किया था। वही युग भरतमुनि का था।

नाटक की शुरूआत किसी भी संस्कृति में लोकनाट्य के रूप में ही हुई। पारिभाषिक शब्दावली में जिसे पारम्परिक (कन्वेन्शनल) मंच कहा जाता है। वह प्रारम्भिक रूप में समाज की जीवन–प्रक्रिया का एक हिस्सा रहा है। मंच पर प्रस्तुति उस युग में न मनोरंजन था और न ही रसज्ञ का संस्कार बल्कि वह एक सामूहिक इतिहास–बोध और सामाजिक जिजीविषा का प्रतीक था।

इसके तंत्र मात्र को ही लेकर बाद में श्रेष्ठियों और सामन्तों के चाटुकारों ने इस विधा को पाला। जंगल का वटवृक्ष गमले में उगाकर शृंगार और शोभा–कक्ष में ला रखा गया। तब से लेकर इस सदी के शुरू तक नाटक को दुबारा मुक्ति नहीं मिली। नाटक ज्यादा से ज्यादा शास्त्रीय भी बना और रंग–विशेष भी। संस्कारों और परम्पराओं का लबादा तो उसे पहले ही ओढ़ा दिया गया था।

'नाट्यशास्त्र' (भरत) का एक प्रसंग ध्यान देने योग्य है। आक्रमण ाकारी सभ्यता (ब्राह्मण संस्कृति) के 'महापुरुष' ब्रह्मा ने पहली बार भारतीय लोक मानस पर आक्रमणकारी ब्राह्मण संस्कृति का सात्विक प्रभुत्व जमाने के लिए नाटक की विधा का इस्तेमाल किया था। ब्रह्मा ने भरत से कहा कि वे देवों–असुरों (ब्राह्मण आक्रान्ताओं और पराजित मूल भारतीयों) के बीच हुए युद्ध का रंगमंचीय रूप पेश करें। भरत ने देवासुर संग्राम पर नाटक पेश किया और प्रदर्शन से मूल भारतीयों के मन को इतनी चोट लगी कि उन्होंने प्रदर्शन को भंग करने की कोशिश की। लेकिन इन्द्र ने शस्त्रबल से उस विरोध को दबा दिया।

बकौल मुद्राराक्षस[12] एक और प्रसंग इससे भी अधिक महत्वपूर्ण है। शिव ऐसा मूल भारतीय जननेता था जिससे कालान्तर से ब्राह्मण प्रमुखों ने भी समझौता किया। भरत का वह नाटक ब्रह्मा को दिखाया गया जिसमें मूल भारतीयों और आक्रान्ताओं के पारस्परिक सहयोग का जिक्र था – 'अमृतमंथन'। हालांकि यह भी चतुराई पूर्वक आक्रान्ताओं के हित में जाता था। संभवतः यह कुछ वैसा प्रयत्न रहा होगा जैसा आज हिन्दू–मुस्लिम एकता को लेकर लिखा जाता है। इसीलिए ब्रह्मा के विशेष आग्रह पर 'त्रिपुरारि' नाटक शंकर के लिए प्रदर्शित किया गया।[13]

स्पष्टतः नाटक की विधा का शोषक वर्ग के हितों के लिए प्रयोग करने का यह एक ऐसा उदाहरण है जिसमें जन संघर्ष की तस्वीर झलकती है। विजेता आर्य–ब्राह्मणों द्वारा भारतीय समाज पर अपनी अन्तिम निर्णायक छाप छोड़ने का इससे अच्छा उपाय दूसरा नहीं हो सकता था। 'देवासुर संग्राम' जैसे नाटकों द्वारा भारतीय पराधीन समाज का 'काला रंग' गहरा किया जाए और उसे बता दिया जाए कि विजेता ब्राह्मण ही अच्छा था, विजित भारतीय गंदा पिछड़ा हुआ, घृणित और शूद्र था।

नाटक अपने दो–सवा दो हजार बरस के इतिहास में जहाँ भद्रलोक के हाथ में रहा वहाँ उसने बराबर जनता के मन में भय पैदा किया और शोषक को अपराजेय ही बताया। 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में मछुआरा इसीलिए पकड़ लिया जाता है कि उसके पास कीमती अंगूठी थी। सिपाही मछुआरे को धमकाता है तो मछुआरा डरकर कहता है कि वह मछलियाँ पकड़कर उन्हें बेचता है और बच्चों का पेट पालता है। सिपाही इस पर व्यंग्य करता है : 'बड़ा बढ़िया करता है।'[14]

सम्भवतः इस बात पर कालिदास के दर्शक खुलकर हँसते होंगे। काम तो राजा का ही बड़ा है, मछुआरे का पेट पालना एक हास्यास्पद स्थिति है। मछुआरे से स्वयं कहलाया गया हैः 'जो अच्छा–बुरा काम जिस जाति को मिल गया वह भला कहीं छूटता है।'

इसके विपरीत कालिदास राजा के लिए हर संभव बड़ी बात कह देते हैंः 'अपनी प्रजा की रक्षा करके ये (राजा) भी नित्य तपस्या ही

करते हैं' ... राजा दुष्यन्त को कालिदास उस इन्द्र के मित्र के रूप में याद करते हैं जिसने भरत के 'देवासुर संग्राम' नाटक के प्रदर्शन के समय जन–विरोध कुचला था। कवि के आश्रम में भी दुष्यन्त उन असुरों के वध के लिए ठहरता है जिनका कवि से विरोध था। उस युग में हर ऋषि और राक्षस के बीच झगड़ा होता था। जंगलों में जागीर बनाकर औपनिवेशक तन्त्र जाल फैलाए इन ऋषियों से भारतीय आदिवासी उसी तरह लड़ते होंगे जिस तरह अमेरिका में श्वेतों के विरुद्ध रेड इंडियन लड़ते थे।[15]

हम जरा उस युग की कल्पना करें जब भारत आए हुए ब्राह्मणों के विविध दल, स्थानीय शासकों सहित, पारस्परिक संघर्ष भी करते थे और स्थानीय शासकों का शमन भी कर रहे थे। दानवों का एक सशक्त कबीला वृत्रासुर के नेतृत्व में इन्द्र से लड़ता रहा और अन्ततः इन्द्र अथवा ब्राह्मण सर्वोच्च शासक ने उसके किले को तोड़कर उसे जीता। ब्राह्मणों के शक्तिशाली नेताओं में मनु, पुरूरवा, दिवोदास, मान्धाता, दधीचि आदि भी थे। वैदिक साम्राज्य मजबूत हो चुका था और अब ब्राह्मण नेताओ को इस बात की जरूरत महसूस हो रही थी कि भारतवासियों को अपने विचारों में ढाला जाए।[16]

ध्यान रहे 'नाट्यशास्त्र' इसीलिए वेद कहा गया। और इससे वेद–व्यवहार का निर्वाह होगा, शूद्र जातियाँ इससे कुछ पाएंगी, यह विश्वास पितामह द्वारा जाहिर किया गया। 'जम्बूद्वीपे समाक्रान्ते लोकपाल प्रतिष्ठिते' जैसी बात आक्रान्ता विजेता सम्राट ही कह सकता था। लिहाजा तब तक के नाट्यकर्म को अपने साम्राज्यशाही उद्देश्य के लिए एक खास रूप दिया 'पितामह' ने और उसको अमल में लाए भरत। भरत ने जिस मंच का विवेचन किया है वह राजसी है। उसकी सज्जा में जो खर्चीलापन, सजावट और आभिजात्य है वह जीती हुई जनजातियों के लिए अजूबे के रूप में ही पेश किया गया है। भरत खुद इसकी विचित्रता और वेद के अनुरूप होने का जिक्र वहीं करते हैं जहाँ बताते हैं कि उनके इस नाटक का किस्सा दैत्यों पर देवताओं की विजय की नकल था।[17]

नाट्य शृंखला में देखें तो प्रभुदयाल अग्निहोत्री के मतानुसार महाकवि भवभूति का नाम कालिदास के बाद ही लिया जाता है।

उनके तीन नाटकों में दो रामकथा से सम्बन्धित हैं और एक स्वतंत्र प्रेमकथा पर आधारित है। ये तीनों नाटक संस्कृत साहित्य में अपनी काव्यात्मक एवं पाण्डित्यमयी शैली के लिए प्रसिद्ध हैं। यह भी सच है कि नाट्यकला की दृष्टि से भवभूति के नाटक कालिदास के सम्मुख नहीं ठहरते।

भवभूति का नाम इसलिए भी प्रसिद्ध है कि उन्होंने करुणा को सर्वप्रमुख रस स्वीकार किया। उनके रामचरित में गृहस्थ जीवन के मधुर चित्र हैं। हृदय में झलकती वेदना और उसका संयम, आश्रम की हृदयावली, बालसुलभ उत्साह और स्वाभिमान आदि के साथ बहुमूल्य सांस्कृतिक जानकारी भी इसमें बिखरी पड़ी है।[18]

भवभूति का समय

भवभूति कालिदास के परवर्ती थे, क्योंकि उन पर कालिदास का प्रभाव अनेक स्थलों पर स्पष्टतया परिलक्षित होता है। दण्डी का समय छठी शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जाता है। बाण भी भवभूति से पहले हो चुके थे, क्योंकि भवभूति ने कहीं–कहीं बाण की भाषा को आदर्श मान कर उसका अनुकरण किया है। कल्हण के अनुसार भवभूति कान्यकुब्ज (कन्नौज) के राजा यशोवर्मा के आश्रित थे।18 यशोवर्मा को कश्मीर–नरेश ललितादित्य ने पराजित किया था। राजतरंगिंणी के अनुसार ललितादित्य का शासन काल 693 से 736 ई. था।[19]

अभी तक भवभूति की तीन कृतियाँ उपलब्ध हुई हैं – (1) महावीर चरित, (2) मालतीमाधव और (3) उत्तररामचरित। महावीरचरित और उत्तररामचरित सात–सात अंकों के नाटक हैं और मालतीमाधव प्रकरण है जिसमें दस अंक हैं।[20] महाकवि भवभूति ने अपने नाटकों में 'अतिभाषा' तथा 'जात्यन्तरी' का प्रयोग नहीं किया है। 'आर्यभाषा' के उदाहरण भी बहुत कम उपलब्ध होते हैं। सामान्तया उनके तीनों नाटकों में 'जातिभाषा' का ही प्रयोग हुआ है। जातिभाषा के दोनों रूपों–संस्कृति और प्राकृत–का प्रयोग शास्त्रीय नियमों के अनुसार किया गया है।[21] उत्तम श्रेणी के पुरुषों द्वारा संस्कृत का तथा स्त्रियों द्वारा शौरसेनी का प्रयोग कराया गया है। महावीर चरित में श्रमणा,

मालतीमाधव में कामन्दकी, सौदामिनी और कपाल कुण्डला तथा उत्तररामचरित में अरुन्धती, आत्रेयी, वासन्ती, तमसा, मुरला, भागीरथी और वसुन्धरा द्वारा संस्कृत का प्रयोग शास्त्रीय नियम के अनुकूल है।[22] अन्य स्त्री–पात्रों द्वारा भी कभी–कभी बीच में संस्कृत का प्रयोग कराया गया है। लवगिंका के साथ वार्तालाप करते समय मालती अपनी मनोव्यथा संस्कृत में व्यक्त करती है। इस प्रसंग में अपने दृढ़ निश्चय को भी उसने संस्कृत में ही प्रकट किया है। मदयन्तिका के साथ प्राकृत में बात करते समय बुद्धरक्षिता ने कामसूत्रकार का उद्धरण संस्कृत में प्रस्तुत किया है।[23] राम के शस्त्र–प्रयोग का समुद्र पर जो प्रभाव हुआ उसका वर्णन रावण के सामने मन्दोदरी ने संस्कृत में किया है। प्राकृत का प्रयोग करने वाले नारी–पात्रों को इस प्रकार बीच में कहीं–कहीं संस्कृत का प्रयोग करने की अनुमति नाट्यशास्त्र ने प्रदान कर दी है।[24]

भवभूति की कृतियों में नाटकीय चमत्कार के उदाहरण अनेक स्थलों पर उपलब्ध होते हैं। यह चमत्कार कई प्रकार से उत्पन्न होता है। कहीं एक पात्र किसी पद्य को आरंभ करता है और बीच में अन्य पात्र आवश्यकतानुसार परिस्थिति के अनुरूप अपनी उक्तियों का समावेश उसमें करते जाते हैं।[25]

संस्कृत के सभी विद्वान पाश्चात्य एवं भारतीय एक स्वर से यही बात करते हैं कि संस्कृत के नाटककारों में कालिदास के पश्चात् सर्वोच्च स्थान भवभूति का ही है। ए. वेबर ने भवभूति के तीनों नाटकों की गणना संस्कृत के उत्तम नाटकों में की है।[26] क्लीन ने मालतीमाधव की तुलना 'रोमियो एण्ड जूलियट' से की है[27] तथा वे भवभूति को भारत का शेक्सपीयर मानते हैं।[28] विन्टरनित्स भी मालतीमाधव में वर्णित माधव और मालती के प्रणय के विकास की चर्चा करते हुए उसकी तुलना 'रोमियो एण्ड जूलियट' से करते हैं।[29] उनके अनुसार रसों के विशेषतः करुणा के वर्णन में भवभूति सर्वश्रेष्ठ हैं। प्रेम, जिसका उन्होंने चित्रण किया है, आत्मा से अधिक सम्बद्ध है, इन्द्रियों से नहीं। हास्य के सम्बन्ध में उनका कथन है कि भवभूति की कृतियों में हास्य की उपलब्धि क्वचित् ही होती है।[30] विदूषक को, जो संस्कृत नाटकों में हास्य का स्त्रोत था, रंगमंच से निष्कासित करने में भवभूति संभवतः अद्वितीय है।

मालतीमाधव के 'आलोचक' होने पर भी राहुल सांकृत्यायन को उत्तररामचरित के कारण भवभूति का लोहा मानने के लिए बाध्य होना पड़ा–'भवभूति का मालतीमाधव नाटक का एक अच्छा उदाहरण है, यद्यपि उसके कितने ही स्थल सुन्दर भी हैं। महावीरचरित में महावीर राम के चरित को नाटक का रूप दिया गया है। उनकी सबसे सुन्दर कृति उत्तररामचरित है, जिसे संस्कृत के उत्कृष्ट नाटकों में रखा जा सकता है, और इसी से भवभूति का लोहा मानने के लिये हम मजबूर हैं।[31]

कालिदास और भवभूति का यह अन्तर वि.स. पटवर्धन ने अधिक विस्तार के साथ स्पष्ट किया है। साथ ही उन्होंने भवभूति की एक और विशेषता की ओर संकेत किया है कि शृंगार–वर्णन में कालिदास अश्लीलता की सीमा को छूने लगते हैं परन्तु भवभूति का शृंगार–वर्णन सर्वत्र और उदात्त है।[32]

अभिनव भारती से पता चलता है कि नाट्यशास्त्र के पूर्ववर्ती टीकाकार ऐसा ही मानते थे कि यह शास्त्र–अभिनेता, कवि और समाज को शिक्षा देने के लिए लिखा गया है पर स्वयं अभिनवगुप्त ऐसा नहीं मानते। उनका कहना है कि नाट्यशास्त्र केवल कवियों और अभिनेताओं को शिक्षित करने के उद्देश्य से ही बना था।[33]

'नाटयशास्त्र' रंगमंच के निर्माण को बहुत महत्व देता है। भूमि–निर्वाचन से लेकर रंगमंच की क्रिया तक वह सब बहुत सावधानी से संभाला जाता था। समतल स्थिर और कठिन भूमि तथा काली या गौर वर्ण की मिट्टी शुभ मानी जाती थी। भूमि को पहले हल से जोता जाता था। उसमें से अस्थि, कली, कपाल, तृण, गुल्मादि को साफ किया जाता था, उसे सम और पटसर बनाया जाता था और तब प्रेक्षागृह के नापने की विधि शुरू होती थी। 'नाट्यशास्त्र' को देखने से पता चलता है कि प्रेक्षागृह का नापना बहुत महत्वपूर्ण कार्य समझा जाता था। माप के समय सूत्र का टूट जाना बहुत अमंगल–जनक समझा जाता था। सूत्र ऐसा बनाया जाता था, जो सहज ही न टूट सके। वह या तो कपास से बनता था या बेर की छाल से बनता था या मूँज से बनता था और किसी वृक्ष की छाल की मजबूत रस्सी भी काम में लाई जा सकती थी। ऐसा विश्वास किया जाता था कि यदि सूत्र आधे से टूट जाए तो स्वामी की मृत्यु

होती है, तिहाई से टूट जाए तो राज–कोप की आशंका होती है, चौथाई से टूटे तो प्रयोक्ता का नाश होता है, हाथ–भर से टूटे तो कुछ सामग्री घट जाती है।

इस प्रकार सूत्र–धारण का काम बहुत ही महत्व का कार्य समझा जाता था। तिथि, नक्षत्र, करण आदि की शुद्धि पर विशेष रूप से ध्यान दिया जाता था और इस बात का पूरा ध्यान रखा जाता था कि कोई काषाय वस्त्रधारी या विकलांग पुरुष मण्डप–स्थापना के समय अचानक अशुभ फल न उत्पन्न कर दे। खंभा गाड़ने में भी बड़ी सावधानी बरती जाती थी। खंभा हिल गया, खिसक गया या काँप गया तो अनेक प्रकार की उपद्रवों की संभावना मानी जाती थी। रंगशाला के निर्माण की प्रत्येक क्रिया में भावाजोखी का डर लगा रहता था। पद–पद पर पूजा, प्रायश्चित और ब्राह्मण–भोजन की आवश्यकता पड़ती थी। भित्ति–कर्म, माप–जोख, चूना पोतना, चित्र–कर्म, खंभा गाड़ना, भूमि–शोधन प्रभृति सभी क्रियाएँ बड़ी सावधानी से और आशंका के साथ की जाती थीं। इन बातों को जाने बिना यह समझना बड़ा कठिन होगा कि सूत्रधार का पद इतना महत्वपूर्ण क्यों है? उसकी ज़रा–सी असावधानी अभिनेताओं के सर्वनाश का कारण हो सकती है। नाटक की सफलता का दारमदार सूत्रधार पर रहता है।[34]

राजाओं की विजय–यात्राओं के पड़ाव पर भी अस्थायी रंगशालाएँ बना ली जाती थीं। इन शालाओं के दो हिस्से हुआ करते थे। एक तो जहाँ अभिनय हुआ करता था वह स्थान और दूसरा दर्शकों का स्थान, जिसमें भिन्न–भिन्न श्रेणियों के लिए उनकी मर्यादा के अनुसार स्थान नियत हुआ करते थे। जहाँ अभिनय होता था, उसे रंगभूमि (या संक्षेप में 'रंग') कहा करते थे। इस रंगभूमि के पीछे परदा लगा दिया जाता था। परदे के पीछे के स्थान को नेपथ्य कहा करते थे। यहीं से सज–धजकर अभिनेतागण रंगभूमि में उतरते थे। 'नेपथ्य' शब्द (नि + पथ् + य) में 'नि' उपसर्ग को देखकर कुछ पण्डितों ने अनुमान किया है कि नेपथ्य का धरातल रंगभूमि की अपेक्षा नीचा हुआ करता था, पर वस्तुतः यह उल्टी बात है। असल में नेपथ्य पर से अभिनेता रंगभूमि में उतरा करते थे। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने

नाट्यशास्त्र को रूढ़ियों का विशाल ग्रंथ बताया है।

दशरूपक भरतमुनि ने नाट्य–शास्त्र के 11 अंगों का निर्देश किया है:

1. रस, 2. भाव, 3. अभिनय, 4. धर्मी, वृत्ति, 6. प्रवृत्ति, 7. सिद्धि, 8. स्वर, 9. आतोद्य, 10. गान और 11. रंग।

इन्हीं 11 विषयों के विस्तृत विवेचन को नाट्य–वेद का शास्त्र अंग कहा गया है।[35]

नाट्यशास्त्र किसके लिए?

भारतीय 'नाट्यशास्त्र' तीन प्रकार के लोगों को दृष्टि में रखकर लिखा गया है। 'दशरूपक' आदि परवर्ती ग्रंथों की तरह वह केवल नाटक लिखने वाले कवियों के लिये मार्गदर्शक ग्रन्थ–मात्र नहीं है। सच पूछा जाए तो वह अभिनेताओं के लिये ही अधिक है, नाटककारों और नाटक समझने वाले सहृदयों के लिये कम। सबसे पहले 'नाट्यशास्त्र' नाटक के अभिनेताओं को दृष्टि में रखकर लिखा गया। साधारणतः रंगमंच या प्रेक्षागृह तीन प्रकर के होते थे। जो बहुत बड़े होते थे वे देवताओं के प्रेक्षागृह कहलाते थे और 108 हाथ लंबे होते थे, दूसरे राजाओं के प्रेक्षागृह होते थे, जो 64 हाथ लंबे और 108 और इतने ही चौड़े होते थे। तीसरे प्रकार के प्रेक्षागृह त्रिभुजाकार होते थे और उनकी तीनों भुजाओं की लंबाई 32 हाथ होती थी। संभवतः दूसरी श्रेणी के प्रेक्षागृह ही अधिक प्रचलित थे। ऐसा जान पड़ता है कि राजभवनों में और बड़े–बड़े समृद्धिशाली भवनों में ऐसे प्रेक्षागृह स्थाई हुआ करते थे। 'प्रतिमा' नाटक के आरंभ में ही राजभवन में नेपथ्यशाला की बात आई है। राजा रामचन्द्र के अन्तःपुर में एक नेपथ्यशाला थी, जहाँ रंगभूमि के लिए वल्कल आदि सामग्री रखी हुई थी।[36]

साधारण नागरिक विवाह तथा अन्य उत्सवों के समय अस्थायी रूप से छोटी–छोटी प्रेक्षण–शालाएँ, जो तीसरी श्रेणी की हुआ करती थीं, बनवा लिया करते थे। प्रेक्षण–शालाओं का निर्माण अभिनेता की सुविधा के लिए हुआ करता था। इस बात का ध्यान रखा जाता था कि रंगभूमि में अभिनय करने वालों की आवाज अन्तिम किनारों

तक अनायास पहुँच सके और सहृदय–दर्शकगण उनकी प्रत्येक भाव–भंगिमा को आसानी से देख सकें।

दूसरी ओर देखें, मनु ने जगह–जगह गाने बजाने को न सिर्फ हीन काम बताया है, बल्कि एक जगह प्रेक्षासमाज (तत्कालीन मंच) में जाने वाली औरत को दंडनीय माना। यानी समाज के आम गृहस्थ से उसने नाचने–गाने तक का हक छीन लिया था (न नृत्येदथवा गायेन्न वादित्राणि वादयेत 1/4/64)। नट के बारे में वह स्पष्ट कहता है कि झल्ल, मल्ल, नट आदि रजोगुण की निकृष्ट गति होते हैं। फिर भी मनुकाल में प्रेक्षासमाज थे इसमें संदेह नहीं। बकौल मुद्राराक्षस मनु का जमाना फिर भी एक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण (खतरनाक भी) है। मनु ने ही, या मनु संचालित व्यवस्था ने, मंचकला को दुबारा सामाजिक जीवन प्रक्रिया का अंग न बनने देने का फैसला सुनाया।[37] कई बार ऐसी स्थितियां भी आईं जब चाणक्य जैसे विद्वान ने कलाकारों तथा रंगकर्मियों के नगर की सीमा के भीतर आवास पर भी प्रतिबंध लगा दिया।

इस तरह से मंच का इस्तेमाल सामाजिक परिवर्तन के तंत्र के रूप में (थोड़ा–बहुत जैसा भी था) बंद हुआ और शासक, श्रेष्ठि या सामंत के अनुरंजन नाटक शुरू हो गया।

मुद्राराक्षस के विचार में इसीलिए नाटक मनु युग से, भरत युग काफी अलग होकर, भरत की ही कुछ स्थापनाओं का विशेष विकास करके, बौद्धिक चाटूकारिता माध्यम बना।

चरणदास सिद्धू[38] के मतानुसार ब्राह्मणों–क्षत्रियों–वैश्यों के दिलों में हमेशा एक दहशत रही है–कहीं ये दास–दस्यु अपने कला–कौशल से, सृजन शक्ति से, हमारे प्रभुत्व की धज्जियां न उड़ा दें। अखाड़े में खड़ा मसखरा, मखौलिया, मिरासी, तानाशाहों का, घमंडियों का दुश्मन है। भयभीत हाकिम जातियों ने हर कलाकार को नीच कहकर, नफरत दिखाकर, दबाने की कोशिश की है। यह बात हिन्दू कानून साजों की हर पुरानी पुस्तक से जाहिर है। खासकर मनुस्मृति से। मनु के मुताबिक–''सवर्णों को किसी अभिनेता से, रंगकर्मी से, भोजन लेकर नहीं खाना चाहिए क्योंकि वे चुगलखोर, झूठे, दरजी, कृतघ्न, लोहार, मल्लाह, सुनार जैसे नीच लोगों में शामिल हैं।'' (मनुस्मृति,

अध्याय 4, श्लोक 214, 215)। नाचने गाने वाली अभिनेत्रियों के वास्ते मनु की नफरत तो असीम है–

''पराई औरतों से बातचीत करने पर पाबंदी है, लेकिन यह पाबंदी नाचने गाने वाली औरतों पर लागू नहीं होती क्योंकि अभिनेता और गवैए अपनी औरतों का हार शृंगार करके उन्हें पराए मर्दों को पेश करते हैं।'' (मनुस्मृति : 8–362)

प्रसादोत्तर हिन्दी नाटकों (1935–1960) में थोड़ा परिवर्तन होना आरंभ हुआ। डॉ. बंशीधर लाल के विचार में वैसे तो प्रसादकाल से ही नाटक विधा दृश्य के बजाय पाठ्य होती गई। बाद के नाटककारों ने इस प्रवृत्ति में परिवर्तन किया और अपने नाटकों को रंगमंच से जोड़ने का प्रयत्न किया। नाटकों से गीतों को या तो हटा दिया गया या फिर कम कर दिया गया। नाटकों (प्रस्तुति के दृष्टिकोण से) का समय और आकार भी कम होने लगा। जहां दर्शक लंबे समय तक प्रेक्षागृह में बैठते थे अब वे दो या ढाई घण्टे ही देने लगे।

देखा जाए तो नाटक में कुछ नये प्रतीक और संकेत जुड़े। पात्रों की भाषा में भी बदलाव आया। साथ ही उनकी वेशभूषा में भी। यहां तक आते–आते स्त्रियों की भूमिका स्त्रियां पात्र ही करने लगी थीं। मर्दों को जनाना बनने की विवशता या आवश्यकता कम ही हुई। वैसे रंगमंच जीवन के यथार्थ से जुड़ा, लेकिन उस पर पौराणिकता/धार्मिक प्रबलता तथा वर्ण–व्यवस्था का प्रभाव भी रहा। संस्कृत नाटक हालांकि कम होने लगे थे, लेकिन संस्कृति निष्ठ और संस्कृज्ञ अब हिन्दी नाटकों पर अपना दबाव बनाने लगे थे।[39]

दूसरी ओर सामाजिक नाटकों में समस्या चित्रण का उभार आने लगा था। उदाहरण के लिए सेठ गोविन्द दास जब अपने नाटक 'गरीबी या अमीरी' में सामाजिक उत्पीड़न का बड़ा ही कारुणिक चित्र खींच रहे थे[40] तब वृन्दावन लाल वर्मा ''धीरे–धीरे'' में भी गरीबो के शोषण का चित्रण कर रहे थे। वहीं राधेश्याम कथावाचक के 'महर्षि वाल्मीकि' नाटक में सामाजिक विसंगति का रूप परिलक्षित हो रहा था। कुछ अन्य नाटक 'दलित कुसुम', 'दुविधा' या 'उद्धार' भी लिखे जा रहे थे और उनके मंचन भी हो रहे थे।

कुल मिलाकर कहा जाए तो सवर्ण नाटककार समाज में बनती

नई परिस्थितियों को पढ़ने का प्रयास भी कर रहे थे। पर अपनी कृतियों में वैसा चित्रण करते हुए या तो वे हिचकिचा रहे थे या फिर परम्पराओं/रुढ़ियों के बोझ से वे उतना दबे थे कि दो–चार कदम आगे बढ़ने के बाद हांफने लगते थे। उनके संस्कार उनके रास्ते में आ जाते थे, जो उन्हें रोकते भी थे और टोकते भी थे। हिन्दू धर्म की अमानवीय परम्परा/प्रथाओं से मुक्ति हेतु नये रास्ते बनाने की उनमें इच्छाशक्ति न थी। वे परिवर्तन के तो हिमायती थे, लेकिन परिवर्तन हेतु बूढ़े बरगद की कांट–छांट करने के हक में न थे। सूर्य को सवेरे–सवेरे पानी तो देते थे, पर सूरज के दर्शन को आत्मसात नहीं करना चाहते थे।

कुछ नाटककारों ने आगे बढ़ना भी चाहा। हबीब तनवीर ने न सिर्फ 'आगरा बाजार' लिखा बल्कि उसकी अनगिनत प्रस्तुतियां भी की। मणि मधुकर ने 'इकतारे की आंख' के माध्यम से जहां कबीर के तत्कालीन समाज के परिवेश को आधुनिक युग बोध के साथ जोड़ा वहीं 'दुलारीबाई' के द्वारा महिला चेतना को उभारा। अन्य नाटक 'भस्मासुर जिन्दा है' में ऐतिहासिक पात्र जैसे एकलव्य, अहल्या आदि अभी भी शोषित हो रहे हैं, ऐसा चित्रण प्रयास किया गया।[41] शंकर शेष के द्वारा लिखित 'एक और द्रोणाचार्य' इसी बारे में एक सटीक कदम है। सुदर्शन चोपड़ा ने 'काला पहाड़' में दिखलाया कि विवशताओं के कारण कमजोर तबके के लोग प्रतिक्रियावादी होते जा रहे हैं। डॉ. लाल का 'पंच पुरुष' पंचायती राज और उसके माध्यम से प्रजातांत्रिक मूल्य के विस्तार की योजना को यथा–स्थितिवादियों के हाथ चले जाने का संकेत देता है, जिससे नई सामन्ती व्यवस्था कायम होगी।[42]

इधर देखा जाए तो कृष्ण प्रकाश सिंह का 'पन्ना' (पन्ना धाय पर) नाटक भी आया और कर्त्तार सिंह दुग्गल का 'बुद्धं शरणं गच्छामि' भी प्रस्तुत हुआ।[43] वहीं डॉ. जगदीश गुप्त का शंबूक नाटक भी इसी शृंखला में आया। यह सभी उनकी साहित्यिक प्रतिबद्धताएं थीं। सवर्ण कथाकारों/नाटककारों में दलितों के प्रति दयाभाव था। वे उसे उसकी बेचारगी से बाहर लाकर उसके भीतर चेतना लाने का कार्य नहीं कर रहे थे। मेरी राय में सिर्फ साहित्यिक विलास कर रहे

थे। मैं यह बात इसलिए भी कर रहा हूँ कि जब सवर्ण नाटककार झांसी की रानी लिख रहे थे तो वे झलकारी बाई के शौर्य से अनभिज्ञ थे या अनभिज्ञ बने रहना चाहते थे। इसी तरह जब वे नाना फड़नवीस तथा तात्या टोपे पर लिख रहे थे तो मातादीन भंगी के चरित्र को ओझल ही रखना चाहते थे।

मेरी राय में इसका कारण यह भी रहा कि इसी दौर में शकराचार्य तथा तुलसी पर भी अनगिनत नाटक लिखे गये। जिससे आर्य संस्कृति कहें या हिन्दुत्ववाद ही नाटकों में अधिक पुष्ट होता गया। कुछ सवर्ण नाटककारों ने भटकाने/उलझाने का कार्य भी किया। उदाहरण के लिए डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल के राम की लड़ाई नाटक (1979) में पौराणिक गाथा का ही आकाश खुला। और प्रतीक रूप में हिरण्यकश्यप को इस्तेमाल किया। इसी तरह डॉ. नरेन्द्र कोहली का नाटक 'शंबुक की हत्या' (1975) इसका उदाहरण हैं।[44] यहां राम को नहीं बल्कि व्यवस्था को दोष दिया गया है। शंकर शेष के 'एक और द्रोणाचार्य' में पात्र, परिवेश व घटनाएं तो आज के हैं, और मिथीकीय कथा के समानान्तर शिक्षक समाज की समझौतावादी वृत्ति उभरती है।[45] गिरिराज किशोर के नाटक 'प्रजा ही रहने दो' नाटक में मिथकीय चिंतन उभरता है। भारतभूषण अग्रवाल ने अपने नाटक 'अग्निलोक' में सदियों से चले आ रहे मर्यादा पुरुषोत्तम राम के मिथक को तोड़ा है, लेकिन उसे आज के राजनीतिज्ञ से जोड़ दिया।[46] उदयशंकर भट्ट का नाटक 'असुर सुन्दरी (1972) हो या फिर डॉ. कुसुम कुमार का 'रावण लीला (1983) या कुमार प्रशान्त का 'जटायु' (1987), फिर विनोद रस्तोगी का नाटक 'सूत पुत्र (1974–महाभारत के प्रसिद्ध पात्र कर्ण के जीवन पर आधारित), इन सभी में गांधी का रामराज्य बोलता है।

सच कहा जाए तो मिथक मनुष्य समाज को आकृष्ट किये रखने वाले आस्था और विश्वास होते हैं। मिथक लोकानुभूति की एक ऐसी कथा है जिसे विशेष रूप से सवर्ण जातियां अपनी आने वाली संतति को सौंपती रही हैं। इस तरह से उन मिथकीय कथाओं में एक विशेष वर्ग की संस्कृति, परम्परा तथा रूढ़ियाँ प्रवेश करती हैं। मिथकीय कथाओं को साहित्य की अलग–अलग विधाओं में प्रस्तुत करने वाले

लेखकों, कवियों तथा नाटककारों का उद्देश्य भी यही होता है कि अपनी संस्कृति, अपनी परम्परा को श्रेष्ठ सिद्ध करना तथा अन्य वर्ग और जाति/जातियों की संस्कृति, अस्मिता को तुच्छ बतलाना।

साहित्य के क्षेत्र में यहां ऐसा ही होता चला आया है फिर सवर्ण नाटककार और रंगकर्मी इस भावना से अछूते कैसे रहते?

सन्दर्भ

1. नाट्यशास्त्र, 6110, 6124 तथा तेरहवां अध्याय, कीथ, संस्कृत ड्रामा, पृ. 16।
2. प्रभाकर श्रोतिय, राष्ट्रव्यापी रंगकर्म : अपने सुख–दुख (सम्पादकीय) वागर्थ, भारतीय भाषा परिषद 36–ए शेक्सपीयर सारणी, कलकत्ता मार्च–अप्रैल 2002।
3. भारतीय दलित, साहित्य अकादमी, दिल्ली द्वारा नैनीताल क्लब, नैनीताल में जून 1990 को आयोजित नाट्य संगोष्ठी में डॉ कालीचरण स्नेही द्वारा प्रस्तुत शोध पत्र से।
4. डॉ. रमेश कुमार पाण्डेय, भरतमुनि साहित्य शास्त्र के आदि आचार्य, संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी, 1992, पृ.1।
5. डॉ. कैलास प्रकाश, नुक्कड़ नाटक संरचना और सिद्धान्त, श्री नटराज प्रकाशन, ए–507/12, साउथ गावंडी एक्सटेंशन, दिल्ली, 2007, पृ. 11।
6. हजारी प्रसाद द्विवेदी, नाट्यशास्त्र की भारतीय परम्परा और दशरूपक, राजकमल प्रकाशन, 1971, पृ. 9।
7. वही, पृ. 10।
   ना. शा. श्रूयतां नाटयर्वेदस्य सभ्यवो ब्रह्मनिर्मित (117)।
   जग्राह पाठय मृग्वेदात्सामभ्यो गीतमेव च। चजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि
   वही, पृ. 12।
8. हिन्दी नाटक लोक भारती प्रकाशन, 15–ए, महात्मा गांधी मार्ग इलाहाबाद पृ. 17।
9. वही, पृ. 18।
10. वही, पृ. 19।
11. नाट्यशास्त्र की भारतीय परम्परा और दशरूपक पृ. 9।
12. मुद्राराक्षस, रंगभूमिकाएं, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय बहावलपुर हाउस, नई दिल्ली, 2006, पृ. 23।
13. वही, पृ. 24।
14. वही. पृ. 125।

15. वही, पृ. 126।
16. वही, पृ. 161।
17. डॉ. ब्रज बल्लभ शर्मा, भवभूति के नाटक, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 197, प्रस्तावना से भवभूति के नाटक, पृ. 1।
18. भवभूति के नाटक, पृ. 1।
19. राजतरंगिणी, पृ. 41, 144।
20. वही, पृ. 41, 34।
21. भवभूति के नाटक, पृ. 11।
22. ना. शा. 17/45, 46 तथा सा. द. 6/156 भवभूति के नाटक, पृ. 236।
23. ना. शा. 17/36, 37 तथा सा. द. 6/167।
24. ना. शा. 17/40 तथा सा. द. 6/167।
25. भवभूति के नाटक, पृ. 236।
26. A Weber: The History of Indian Literature
27. Klein: Geschichte des Dramas, III, p. 135, The History and Culture of the Indian People, Vol. III. p. 308.
28. Klein: History of Dramas, Vol. III, p. 51, Dasgupta and De: History of Sanskrit Literature, p. 763.
29. Winternitz: G.I.L III. p. 235, The History and Culture of the Indian People, Vol. III, p. 308.
30. Winternitz: G.I.L III p. 236, The History and Culture of the Indian People, Vol. III, p. 308.
31. राहुल सांस्कृत्यायानः संस्कृत काव्यधारा, पृ. 736।
32. विनायक सदाशिव पटवर्धनः उत्तरराम चरित भूमिका, पृ. 2–3।
33. नाट्यशास्त्र की भारतीय परम्परा और दशरूपक, पृ. 23
34. वही, पृ. 24।
35. वही, पृ. 22।
36. वही, पृ. 23।
37. रंगभूमिकाएं पृ. 166।
38. चरणदास सिद्धू, क्या रंगकर्मी शूद्र होते हैं – दलितों की कला को देन, युद्धरत आदमी, (हिन्दी मासिक) नई दिल्ली 2006, पृ. 61।
39. डॉ. बालेन्द्र शेखर तिवारी – डॉ. बादाम सिंह रावत, हिन्दी नाटक के 100 वर्ष, गिरनार प्रकाशन, पिलाजीगंज, महेसाना गुजरात, 1990, पृ. 23।
40. वही, पृ. 26।
41. वही, पृ. 31।
42. वही, पृ. 33।

43. वही, पृ. 56।
44. वही, पृ. 76।
45. डॉ. नीलम राठी, साठोतर हिन्दी नाटक, संजय प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 124।
46. वही, पृ. 131।

लोक नाट्य/नौटंकी

भारत में लोकधर्मी नाट्यों की एक समृद्ध परम्परा सदियों से रही है। बकौल डॉ. भारद्वाज[1] लोकधर्मी नाट्यों में लोक का शुद्ध और स्वाभाविक अनुकरण होता है। जीवन को प्राकृत रूप में ही प्रस्तुत किया जाता है। लोकधर्मी नाटकों के मूल में ग्राम्य जीवन की सहजता और अकृत्रिमता रही है। यही कारण है कि राजनीतिक झंझावात के थपेड़ों को झेलकर भी ये अपने अस्तित्व को बनाए रहे। शिवकुमार मधुर के मतानुसार कश्मीर से केरल और गुजरात से असम तक फैली लोक रंग शैलियाँ आम आदमी के मनोरंजन का जहाँ माध्यम हैं, वहाँ क्षेत्र विशेष की लोक–संस्कृति का दर्पण भी है। इस इन्द्रधनुषी विस्तार के प्रत्येक रंग की जहाँ अपनी मौलिक पहचान है, वहीं अन्तरसम्बन्धों के सूत्र भी विद्यमान हैं, जो भारतीय एकता की कड़ी को मजबूत बनाए हुए हैं।[2]

लोकानुरंजन के प्रमुख मानवी माध्यम इन लोक–रंग रूपों को मोटे तौर पर दो भागों में विभक्त कर सकते हैं–लीला–नाट्य और शृंगारपरक नाट्य। प्रथम वर्ग में उत्तर भारत की रामलीला व रासलीला, असम का कीर्तनिया, बंगाल की जात्रा, उड़ीसा का गंभीरा, महाराष्ट्र का गोंघल व दशावतार, आन्ध्र प्रदेश का वीथि भागवत, तमिलनाडु का तेरुकुतू, कर्नाटक का यक्षगान और केरल की कथकली आदि प्रमुख उदाहरण हैं। इनमें मुख्य रूप से धार्मिक और पौराणिक आख्यानकों और कथानायकों के जीवनचरित को मंचित किया जाता है। दूसरे वर्ग की शृंगारपरक शैलियों में प्रमुख हैं–कश्मीर का जश्नभांड, उत्तर भारत (पंजाब, हरियाणा, उत्तर प्रदेश) की नौटंकी, गुजरात का भवाई, राजस्थान का ख्याल, मध्य प्रदेश का

माच, महाराष्ट्र का तमाशा और बिहार का बिदेशिया भील परिवार का गवरी, आंध्र के पहाड़ी आदिवासी लोकनाट्य, कुरवजि, हिमाचल प्रदेश का करियाला आदि। प्रेमाख्यानों, ऐतिहासिक एवं सामाजिक कथानकों पर आधारित इन नाट्य–प्रदर्शनों द्वारा प्रेक्षकों की प्रमुख रूप से शृंगारपरक अभिरुचियों की परितृप्ति होती है।

लोक की बुनियाद पर बनी शास्त्र की परम्परा, जिसने अपना सूखापन दूर करने के लिए हमेशा लोक का सहारा लिया और इन दोनों का अन्तरगुम्फन ही परम्परा का समूह बनता है, अलगाव कदापि नहीं।[3] मेहनतकश जीवन जीने की परम्परा देश में सदियों से कायम है। लोक जीवन में उत्साह का संचार होता है।

लोक की परिभाषा करते हुए हजारी प्रसाद लिखते हैं – ''लोक से उस मानव समूह का बोध होता है जिसके व्यवहारिक ज्ञान पर पोथियों का प्रभाव न हो और उससे मुक्त हो। लोक एक प्रवाह में जीता है – उसकी प्रगति चेतन और सामूहिक अचेतन के विभिन्न प्रवाह में होती है। वहाँ व्यक्ति या तद् द्वारा अर्जित ज्ञान प्रभावी नहीं होता। इसी समुदाय की चेतना लोक चेतना है।''[4]

इस प्रवाह में जीने वाला लोक कई कलाओं को अपने साथ जीवित लेता चला है और लोक–साहित्य, लोक–संगीत, लोक गीत, लोकनृत्य कई कलाएँ अपने मनोरंजन के लिए संरक्षित रखता चला आ रहा है। इसकी चेतना में सामूहिक चेतना प्रमुख रही ओर वही इसको शास्त्र से अलग भी करती रही अगर कहा जाए कि लोक परम्परा न होती तो शायद शास्त्र की परम्परा भी न होती, क्योंकि शास्त्र ने अपनी बुनियाद लोक पर ही बनायी है। लोक को और स्पष्टता से समझा जा सकता है।[5]

लोक शब्द का अर्थ जनपद या ग्राम्य नहीं है, बल्कि नगरों और ग्रामों में फैली हुई वह समूची जनता है जिसके व्यवहारिक ज्ञान पर आधार पोथियां नहीं हैं। ये लोग नगर में परिष्कृत, रुचि सम्पन्न तथा सुसंस्कृत समझे जाने वाले लोगों की अपेक्षा अधिक सरल ओर अकृत्रिम जीवन के अभ्यस्त होते हैं और परिष्कृत रुचि वाले लोगों की समूची विलासिता और सुकूमारिता को जीवित रखने के लिए जो भी वस्तुएं आवश्यक होती हैं, उनको उत्पन्न करते हैं।

लोक के वाहक कृषक, मजदूर, धरती की खूबसूरती को बनाने वाले गंवार लोग ही रहे हैं। (सभ्य कहलाने वाले लोग इनको गंवार कहते हैं) पर ये नहीं होते तो क्या होता? इसके बारे में कभी कोई नहीं सोचता। वैसे मौखिक परम्परा में कितने ही कलाकार तो ऐसे ही भुला दिये जाते हैं। और जिस नाट्य परम्परा के साथ आम आदमी जीता और मरता है, वह परम्परा तो हमेशा जीवित ही रहती है। इस सम्बन्ध में भारद्वाज की बात कहें तो वस्तुतः संस्कृत की नाट्यधर्मी परम्परा के समानान्तर साधारण जनता द्वारा घोषित यह लोकधर्मी नाट्य परम्परा अविच्छिन रूप में प्राकृत एवं अपभ्रंश के भाषायुगों से गुजरती हुई विभिन्न देशी भाषाओं में अनेक नाट्य–शैलियों के रूप में प्रकट होती हुई आज तक सतत् बनी रही है।[6]

लोक कलाओं का औद्योगीकरण करके उन्हें संस्कृति–उद्योग के माल के रूप में परिवर्तित किया जा रहा है और उनका मानकीकरण करके उनकी प्रतिरोधक क्षमता को कुंद किया जा रहा है, और इस तरह उन्हें मॉस कल्चर (झुण्ड संस्कृति – डॉ. विनोद तिवारी) में बदल रहा है। बाजार की ताकत से उत्प्रेरित यह मॉस कल्चर लोक संस्कृति, लोक–कलाओं का विकृत और भोंडा संस्कार होता है जिसके मार्फत संस्कृति उद्योग अधिकाधिक मुनाफा कमाना चाहता है।[7]

झुण्ड संस्कृति के समकक्ष लोक को अपने को बचाना है और उसकी कलाओं की उपयोगिता को भी बचाये रखना है। ऐसे में लोक का समझना बहुत आवश्यक हो जाता है। पेटूओं की संस्कृति मॉस–कल्चर है जबकि मेहनतकशों की संस्कृति लोक–संस्कृति है। हमारे समाज में एक ऐसा वर्ग है जो धूमिल के शब्दों में कहें तो वह रोटी खाता नहीं रोटी के साथ खेलता है। उसके पास इतनी सम्पत्ति है कि वह सब कुछ खरीद सकता है पर दूसरा वर्ग है जो श्रम करता है और अपना पेट पालता है। उसके जीवन में श्रम और संघर्ष दोनों हैं तथा उन दोनों की द्वात्मकता से उत्पन्न विवेकशीलता ये ही मूल तत्व है जो आदिम से वर्तमान तक और आगे भी लोक–जीवन की परम्पराओं के आधार पर निर्मित और विकसित होती है और लोक–भाषा, लोक–कथा, लोक–नाट्य, लोक–गीत, संगीत आदि

विभिन्न स्वरूपों में लोक में व्याप्त रही है। इन्हीं लोक की विभिन्न परम्पराओं से लोक अपनी विशिष्टता रखता है। इनको यदि इस तरह से मार्जिनलाइज्ड कर दिया जाएगा तो इनकी जीवन्तता क्या बचेगी? आज सम्पूर्ण विश्व के विभिन्न रंगों को खत्म करने का कारोबार जोर–शोर से चल रहा है। ऐसे में लोक परम्पराएं ही उसको चुनौती दे रही हैं।[8]

कला सदा किसी न किसी विचारधारा की संवाहक थी और आज भी है। कला विचारधाराओं के संघर्ष से हमारे युग के वैचारिक टकरावों के समाधान में विश्व दृष्टिकोणों के साथ सक्रिय रूप में भाग लेती है। इसमें कोई दो राय नहीं कि रूस की समाजवादी क्रांति ने एक नए प्रकार की कला संस्कृति का निर्माण किया, जिसकी सबसे बड़ी विशेषता है उसकी अति गहन जनवादिता। इसके साथ ही क्रांति, शोषक व्यवस्था को ध्वस्त ही नहीं करती, वह उसके द्वारा पैदा की गई मानव–अस्तित्व की कुरूप सौन्दर्य विरोधी अवस्थाओं का निर्मूलन भी करती है।[9]

इस क्रम में यह साफ दृष्टिगोचर होता है कि पूरे विश्व की मानवीय पीड़ा, संघर्ष और संघर्षपरक उपलब्धियों में कला सदैव सार्थक हस्तक्षेप करती आई है। कला का एक रूप रंगमंच समूहगत और जीवन्त शक्तिशाली माध्यम होने के कारण सदैव ही मानव की मानवीयता को लेकर लड़ाई में शरीक रहा है।[10]

संस्कृति के निर्माण के बारे में मैक्सिम गोर्की ने जो कुछ लिखा है उसे हमें पढ़ना चाहिए। उन्होंने विश्व साहित्य की अनेक प्रसिद्ध रचनाओं की चर्चा की है। उन्होंने बताया है कि विश्व साहित्य की इन महान रचनाओं में से हरेक की मौलिक अंतर्वस्तु इन लेखकों द्वारा इन साहित्यिक रचनाओं का रूप दिए जाने से बहुत पहले से लोकगीतों तथा लोक संस्कृति के रूप में चली आ रही थी। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो सभी श्रेष्ठतम कलात्मक या साहित्यिक रचनाओं का सृजन प्रथमतः जनता ने ही किया था। लेकिन क्या आज जनता उनका परिष्कार कर सकती है, उनमें निखार ला सकती है? नहीं, इसके लिए विशेष प्रतिभा वाले लोगों की आवश्यकता होती है और एक वर्ग समाज में, विशेष प्रतिभा का संबंध प्रभुत्वशाली वर्ग से ही होता है।

गोर्की ने जन संस्कृति की तुलना एक बिना तराशे हुए, अनगढ़ पत्थर से की है। लोकगीत, लोकनृत्य, लोककला और अन्य सांस्कृतिक रूप, बिना तराशे हुए पत्थरों की तरह हैं। कुशल दस्तकार इन पत्थरों को सुंदर हीरों में बदल देते हैं। प्रतिभाशाली दस्तकार, प्रतिभाशाली व्यक्ति, प्रतिभाशाली लेखक, प्रतिभाशाली सर्जक आदि अनगढ़ पत्थरों को सुंदर हीरों में बदल देते हैं। लेकिन ये दस्तकार कौन हैं? लोकगीतों, नृत्यों आदि के बिना तराशे हुए पत्थरों को साहित्य और रचना का परिष्कृत रूप देने वाले ये लोग कौन हैं? ये प्रभुत्वशाली वर्ग के प्रतिनिधि ही हैं, वे वर्ग समाज में प्रभुत्वशाली सामाजिक तबकों के प्रतिनिधि ही हैं, जैसा कि मार्क्स ने कहा है, यद्यपि संस्कृति का वास्तविक स्त्रोत जनता, यानी मेहनतकश वर्ग ही है, वर्ग समाज में शासक वर्ग की संस्कृति होती है।[11]

भारतीय संदर्भ में, संभ्रांत संस्कृति के प्रतिभाशाली सर्जक उसी सवर्ण हिन्दू वर्ग के प्रतिनिधि थे, जिसका प्राचीन भारत में प्रभुत्व था।

रंगकर्मी, लेखक, गायक, नाटककार आदि कलाकार होने के नाते, मानव समाज में जो कुछ सुंदर है उसके प्रेमी होने के नाते कभी–कभी अपनी वर्गीय सीमाओं का अतिक्रमण कर जाते हैं। पहले हम इस बात को कह चुके हैं कि मार्क्स, एंगेल्स और लेनिन ने इस या उस साहित्यिक कृति के संदर्भ में (मार्क्स ने बाल्जाक के संदर्भ में और लेनिन ने टॉल्स्टाय के संदर्भ में) यह महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकाला। ये रचनाकार अपने कलात्मक सृजन में यथार्थ को, समाज में हो रहे वास्तविक परिवर्तनों को प्रतिबिंबित कर रहे थे। लेनिन ने टॉल्स्टाय को रूस के 'किसानों के क्रांति का दर्पण' बताया, हालांकि टॉल्स्टाय की विश्व दृष्टि आधुनिक मजदूर आन्दोलन की विश्व दृष्टि से बहुत पीछे थी।[12]

क्रांति की अवस्था में नुक्कड़ नाटक एक कारगर हथियार साबित हुआ, क्योंकि इसके लिए बहुत–से उपादानों की आवश्यकता नहीं पड़ा करती। नुक्कड़ नाटक को जिस रूप में आज हम जानते हैं, उसका सीधा संबंध 1917 की सोवियत क्रांति के तत्काल बाद के वर्षों से ही जुड़ता है। अक्टूबर क्रांति की पहली जयंती पर व्सेवोलोद मायेहोंल्द ने टेंट–शो के तत्वों और क्रांतिकारी कविता

को मिलाकर मायकोव्स्की के 'मिस्ट्री बूफे' को नाट्य रूप दिया और उसके कई हज़ार दर्शकों के सामने शहर के बीच प्रस्तुत किया। यह गलियों, चौराहों, खेल के मैदानों और खलिहानों जैसी–दूसरी जगह खेले जाने वाले नए ढंग के आन्दोलन–प्रचारक परक नाटकों का आरम्भिक दौर था। युद्ध के कठिन वर्षों में सोवियत रंगमंच ने मोर्चे पर, खाइयों में, लारियों पर, जंगलों में, ध्वस्त इमारतों के भीतर, युद्ध पोतों पर, अस्तबलों में और ऐसी ही तमाम जगहों के भीतर दिमाग को झकझोर देने वाली पाँच लाख प्रस्तुतियाँ की थीं।[13]

इस संबंध में 'निकोलाई पोगोदिन' के नाटकों, जिनमें श्रमिक उत्साह चित्रित हुआ है और इसके साथ ही साथ लेओनिद लेओनोव के 'धावा' और अलेक्मान्द्र कोनेइचुक के 'मोर्चा' नामक नाटकों जिनमें फासिस्ट कब्ज़ावरों के विरुद्ध संघर्ष में सोवियत लोगों द्वारा प्रदर्शित अदम्य संकल्प तथा नैतिक बल का असामान्य चित्रण किया गया है, उल्लेखनीय है। 'बोरीस वसील्येव' की लंबी कहानी, 'यहाँ सुबहें शांत–सुहानी हैं' और उस पर आधारित 'तगान्का थियेटर' नाटक ने सोवियत जनता में अद्‌भुत और अनुपम नैतिक उत्साह का संचार किया। कलाकारों, लेखकों और कवियों के लिए शांति तथा राष्ट्रों की मुक्ति हेतु संघर्ष व मेहनतकशों की अन्तर्राष्ट्रीयतावादी एकता जैसी महत्वपूर्ण एवं उदात्त विषयवस्तु भी प्रेरणा का स्त्रोत बनती जा रही थी। इस सिलसिले में सोवियत रूस के निकोलाई मिरोश्चिन चेंको के नाटक 'तीसरी पीढ़ी' और 'गेनारिखा बारोविक' के 'नार्टिन ग्रो के तीन मिनट' आदि नाटकों का उल्लेख कर सकते हैं।[14]

आज से लगभग ढाई–तीन हजार वर्ष पहले यूनान में थेस्पिस नामक अभिनेता घोड़ा गाड़ी या भैंसा गाड़ी में सामान लादकर शहर–शहर घूमकर सड़कों पर, चौराहों पर अथवा बाजारों में अकेला ही नाटको का मंचन किया करता था।

इस विषय में यूरोप के यूनिटी थियेटर अमेरिका के 'प्रचार' या 'क्रांतिकारी' थियेटर एवं चीन की 'जनता की जापान–विरोध नाटक समिति' का उदाहरण प्रस्तुत करना आवश्यक होगा। ज्ञातव्य है कि उक्त सभी नाट्य संस्थाओं ने जनता की राजनीतिक शिक्षा एवं सांस्कृतिक उन्नति के लिए प्रभावी भूमिका का निर्वहन किया।[15]

यूरोप का 'यूनिटी थियेटर' फासीवाद विरोध संयुक्त मोर्चा का प्रमुख प्रचार–तन्त्र था। इस थियेटर में जो नाटक खेले गए, उनमें 'ट्रिट्रियाशव' का 'रोडर चाइना', गोर्की का 'मदर', स्टीफन स्पैंडर का 'दी ट्रायल ऑव एजेज', क्लिफर्ड ऑडेट का 'वेटिंग फॉर लेफ्टी' आदि अनुदित तथा मौलिक नाटक प्रसिद्ध हैं। इन नाटकों की यह विशेषता है कि इनके प्रधान पात्र उच्च वर्ग के नहीं वरन श्रमिक वर्ग के होते हैं। अमेरिका के प्रचार थियेटर ने भी मजदूरों में नाटक दिखाने की प्रवृत्ति पैदा की। वहाँ के 'क्रांतिकारी थियेटर' की एक विशेषता यह भी थी कि उसने ऐसे चलते–फिरते थियेटर स्थापित किए थे, जिनमें रंगमंच की तड़क–भड़क नहीं रहती थी, केवल छोटे–छोटे व्यंग्य प्रहसन खेले जाते थे। शिक्षित पात्रों की आवश्यकता भी नहीं पड़ती थी, साधारण मजदूर ही कहीं भी इकट्ठे होकर अभिनय कर लेते थे। इन नाटकों के कथानक मजदूरों के जीवन से संबंध रखने वाले होते थे।

बहुतायत क्रांति के दिनों में 'नुक्कड़ नाटक' अपने पूर्ण स्वरूप को लेकर उभरा। अनेक देशों में उनके इतिहास की नाजुक घड़ियों के दौरान, वियतनाम में जापानी, फ्रांसीसी और अमरीकी हमलावरों के विरुद्ध पैंतालीस वर्षों के लंबे गृह युद्ध के दौरान, क्यूबा में क्रांति के तत्काल बाद और पूरे लैटिन अमेरिका व अफ्रीका में राष्ट्रीय मुक्ति संग्राम के दौरान नुक्कड़ नाटकों ने खुलकर भीगीदारी की। अमेरिका में यह नाटक मैक्सिकी खेत मज़दूरों और हब्शियों (नीग्रो)[15-ए] के बीच संघर्ष और संगठन के साधन के रूप में लोकप्रिय हुआ। फ्रांस में यह उथल–पुथल भरे सातवें दशक के अन्तिम चरण में प्रकट हुआ।[16] वहीं श्वेत–अश्वेत के संघर्ष में 'बोले सोयिन्का' (प्रसिद्ध नोबेल पुरस्कार विजेता नाटककार) के नाटकों व उनके प्रदर्शनों को भुलाया नहीं जा सकता, जिसने अश्वेतों के पक्ष में लगातार मानवीय न्याय के लिए लड़ाइयाँ लड़ीं। नाइजीरिया के अश्वेत नाटककार एवं रंगकर्मी बोले सोयिन्का (मूलतः नाटककार), के सात के अधिक नाटक प्रकाशित हो चुके हैं। इनके नाटक 'द ट्रायल ऑफ ब्रदर ज़ेरो' और 'अ डान्स ऑफ फॉरेस्टस' जोकि नाइजीरिया के स्वतन्त्रता के उत्सव हेतु तैयार किया गया था, विशेष चर्चित रहे।[17]

बोले सोचिन्का के मतानुसार एक नाटककार अपनी रचना से ही युद्धक्षेत्र में शरीक रहता है, वह अपने संघर्ष से किसी भी संघर्ष को दिशा और दृष्टि प्रदान करता है।[18]

अन्य अश्वेत नाटककारों में गुगी व थांग और उनके सह लेखक मिन्सेरे का नाटक 'द ट्रायल ऑफ डेडेन किमेथी' भी राष्ट्रीयता के लिए संघर्ष को अभिव्यक्त करता है।[19]

यह कहना अतिश्योक्तिपूर्ण नहीं होगा कि नाटक 'अंकल टाम्स कैबिन' ने अमेरिका में दास–प्रथा को समाप्त कराने में अद्वितीय भूमिका का निर्वहन किया था।[20]

मध्यकाल में जिस तरह के मौखिक, क्षेत्रीय और लोक–रंगमंच का जन्म और विकास हुआ, वह तो पूरी तरह से दलित वर्ग पर आश्रित था। ये लोग नाट्य–मंडलियों के साथ गांव–दर–गांव घूम–घूमकर समाज के जमींदार धनाढ्य वर्ग का मनोरंजन किया करते थे। भांड, बेरासी, मदारी, अखाड़ेबाज और बाद में नौटंकी कलाकार – ये सब समाज के उन्हीं वर्गों का प्रतिनिधित्व करते थे जिन्हें आज हम दलित के नाम से जानते हैं। इतना ही नहीं, इन नाटकों के कथानक भी उनके अपने जैसे पात्रों से ही जुड़े होते थे। उदाहरण के लिए यदि एक लोक नाट्य–शैली के माध्यम से अपनी बात को आगे बढ़ाना हो तो हम गुजरात की भवई–शैली में प्रचलित और खेली जाने वाली जस्मा–ओड़न की कहानी का नाम ले सकते हैं। इसके इतर महाराष्ट्र का तमाशा, मध्यकाल का हिन्दी कवि कबीर तो ना जाने कितने आधुनिक नाटकों की केन्द्रीय भूमिका में आता है। 'कबीरा खड़ा बाजार में, 'कहे कबीर सुनो भई साधो', 'एकतारे की आंख' और 'कहन कबीर' जैसे तीन–चार नाटक ही उदाहरण के रूप में पर्याप्त हैं। भीष्म साहनी का ही पहला और सबसे महत्वपूर्ण नाटक है 'हानूश' जो ताले बनाने वाले गरीब आदमी की जिंदगी पर आधारित है। एक ताले बनाने वाला दुनिया की पहली मीनार घड़ी बनाने का निश्चय करता है और उसमें सफल भी होता है, लेकिन इतने बड़े काम के पुरस्कार स्वरूप उसे मिलता क्या है? उल्टे ऐसी सजा भुगतनी पड़ती है, जिसकी उसने अथवा किसी ने भी कल्पना नहीं की होगी। अर्थात् उसकी दोनों आंखें निकलवा दी जाती हैं

ताकि वह ऐसी कोई दूसरी घड़ी न बना सके। क्या ऐसा ही दण्ड कोणार्क मंदिर के शिल्पी विशु अथवा ताजमहल बनाने वाले शिल्पियों और कारीगरों को भी भुगतान नहीं पड़ता? जिनके बारे में कहा जाता है कि उनके हाथ कटवा दिये गये थे, ताकि वे ताजमहल जैसी खूबसूरत किसी और इमारत की रचना ना कर सके। इस प्रकार तत्कालीन राज–व्यवस्था द्वारा दलितों के शोषण और उत्पीड़न के ऐसे प्रसंग आधुनिक भारतीय नाट्य–साहित्य में बार–बार अपनी उपस्थिति दर्ज करते हैं।[21]

इस बारे में पश्चिमी उत्तर प्रदेश की नाट्य सम्बन्धी विरासत का अध्ययन करने पर कुछ नये तथ्यों का पता चलता है। डॉ. देवी सिंह[22] के अनुसार मेरठ जनपद का लोक नाट्य दो सौ पच्चीस वर्ष से भी कुछ अधिक पुराना है। यों इसकी जड़ें अठाहरवीं शताब्दी के मध्य तक चली गई हैं, लेकिन इस जनपद का सर्वप्रथम लोक नाट्य हापुड़ निवासी का है। उन्होंने 'सपेरे' का लोकनाट्य 1821 में लिखा था। दलित समाज के लोक नाटककारों की प्रथम श्रेणी में बक्शीदास और झन्डूदास आते हैं।[23]

उत्तर प्रदेश में लोक नाट्य का प्रारम्भिक रूप क्या रहा होगा, इस सम्बन्ध में निश्चित रूप में कुछ नहीं कहा जा सकता, लेकिन जो लोक नाट्य इनमें प्रचलित हैं, उनके आधार पर इनके विभिन्न रूपों के सम्बन्ध में धारणा बनाई जा सकती है। जो इस तरह से हैं–

1. चढ़त तथा खोड़िया,[24] 2. भांड–भण्डेला,[25] 3. बहुरूपिया,[26] 4. स्वांग।[27]

ढोला, आल्हा या किसी महापुरुष जैसे बाबा साहेब आदि के जीवन संघर्ष पर गायन मुख्यतः दो आदमियों द्वारा ही प्रस्तुत किया जाता था। एक आदमी जो गाता था। इकतारा (धतूरा) या हारमोनियम वाद्य यंत्र भी बजाता था। इसका साथ दूसरा आदमी, जो ढोलक भी बजाता था, साथ ही पूरा वृतांत (कहानी) भी सुनाता रहता था, इसमें वीर इस को अतिश्योक्ति के साथ सोने में सुहागा का कार्य करता था। इसमें क्योंकि दो आदमी ही होते थे, अतः इसलिए यह सस्ता साधन होता था, जिसमें 200 से 600 तक लोगों की भीड़ पूरी रात्रि अपनी सुध–बुध भूले रहती थी। गाने वाले के साथ ढोलक बजाने

वाले के संवाद होते रहते थे जिनके द्वारा वे दशर्कों को समझाते रहते थे, उदाहरण के लिए गायक संवाद करता है कि राजा नल (ढोला का पिता) जब दुश्मन पर आक्रमण करता है तो ढोलक वाला जोर से बोलता है कि दुश्मन की सेना काई की तरह फट जाती है अर्थात् सैनिक राजा नल को रास्ता छोड़ देते हैं।

दौलत सिंह के विचार में मध्यप्रदेश में 'महाभारत के गायन में नारियों का योगदान इक्कीसवीं सदी में भी लगातार जारी है। जिसमें उषा, तीजन बाई तथा तीजन बाई की पुत्री व अन्य दूसरी नारियाँ पंडवानी गायन गाती हैं। पंडवानी गायन को छत्तीसगढ़ तथा उत्तर भारत में इस प्रकार प्रसिद्धि मिली हुई है जैसे दक्षिण भारत में हरिकथा को मिली हुई है।[28]

सांग तथा नौटंकी दोनों ही में किसी कहानी पर मंचन किया जाता है। दोनों एक ही तरह से हैं, सांग छोटे गांवों या दूर दराज के गांवों में होता है जबकि नौटंकी बड़े कस्बों या शहरों में खेली जाती है।

इन दोनों में एक से चार हारमोनियम बजाने वाले, एक ढोलक बजाने वाला, एक चिमटा बजाने वाला मुख्य है। एक तबला वादक व एक दो अन्य वाद्य यंत्र भी होते थे। इनमें मुख्यतः नगाड़ा अवश्य होता है क्योंकि नगाड़े की आवाज अधिक होती है। इस प्रकार कुल 10 से 15 सदस्य सांग या नौटंकी में होते थे। इन दोनों में हास्य कलाकार एक महत्वपूर्ण होता था जिसको जोकर, मसखरा, भंडेला या भांड कहा जाता था। कभी–कभी ये काफी फूहड़ अभिनय द्वारा लोगों को हंसाता था।

सांग में सभी पुरुष कलाकार होते थे। पुरुष ही महिला का रूप धारण करके स्त्री का किरदार निभाता था, किन्तु नौटंकी में 4–5 स्त्रियाँ भी होती थीं जो महिला का किरदार निभाती थीं। अब प्रश्न उठता है कि सांग में नौटंकी में यह अंतर क्यों? क्योंकि सांग दूर दराज के छोटे गांवों में खेला जाता था, इसलिए वहां वे महिला कलाकारों की सुरक्षा में सक्षम नहीं होते थे। इसलिए पुरुष कलाकार भी सांग में अभिनय करते थे। नौटंकी महिला कलाकार होने के कारण बड़े कस्बे अथवा शहरों में होती है और महिला पात्र का किरदार महिला पात्र ही निभाती है। क्योंकि वहां ठहरने तथा सुरक्षा

के समुचित प्रबन्ध होता है। सांग विवाह के अवसरों पर मनोरंजन के मुख्य साधन होते थे, क्योंकि उस समय तीन दिनों तक बारात रोकी जाती थी।

भारतीय लोकनाट्यों में जिस वीर कथात्मक लोकनाट्य ने महती भूमिका का निर्वहन किया, उनमें 'आल्हा–ऊदल' एक प्रमुख लोकनाट्य है। इस नाट्य में दो वीर भाइयों 'आल्हा–ऊदल' की वीरता की कथा वर्णित है। किस प्रकार वे युद्धक्षेत्र में विजयी हो वापस आते हैं, इसका जीवंत वर्णन इसमें मिलता है। इस प्रकार आल्हा–ऊदल की कथा ने सदैव ही उत्तर भारत के हिन्दी भाषी जनमानस में आत्मविश्वास भरने का कार्य किया है।

नौटंकी

आकाशवाणी, शिमला में कार्यरत डॉ. हरि सिंह पाल के विचार में उत्तर भारत की नौटंकी, एक प्रमुख एवं लोकप्रिय लोकनाट्य है। स्वांग अथवा तमाशा से अनुप्राणित नौटंकी पूरे भारत में अपना विशिष्ट स्थान रखती है। इस लोकनाट्य में नौ प्रकार के वाद्ययंत्र बजाए जाते हैं इसलिए नौ प्रकार की वाद्य–ध्वनि (नौ वाद्यों की टंकार) के कारण इसे नौटंकी कहा गया। एक किंवदंती के अनुसार पंजाब की एक रियासत की सुंदर राजकुमारी पर आधारित 'नौटंकी' के प्रेमाख्यान की लोकगाथा लोकप्रिय होकर नौटंकी कहलायी। पंजाब से अमरोहा वहां से ब्रज क्षेत्र (कामा–भरतपुर) में आयी फिर हाथरस में आकर विकसित हुई। तत्पश्चात् कानपुर–लखनऊ तक यह लोकनाट्य पहुंचा। इनका मूल विषय ऐतिहासिक, पौराणिक, धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक लोकगाथाएं हैं। हाथरस से अखाड़ों के रूप में मंचित नौटंकी प्रतियोगिता के आधार पर परवान चढ़ी। इनमें विविध प्रकार के लोकछंद यथा–चौबोला, लावनी, बहरे–तबील, लावनी, दोहा, सवैया, गजल, ठुमरी–दादरा आदि के माध्यम से रचें और खेलें जाते हैं।[29]

दिल्ली की सामाजिक कार्यकर्ता तथा रंगकर्मी रजनी तिलक का मानना है कि कानपुर शहर साहित्य और संस्कृति के दुशाला के नीचे नौटंकी विद्या को छुपाये हुए हैं। नौटंकी रंगमंच की दुनिया

की प्राचीन शैली है। लेकिन आज कला और संस्कृति के प्रसादों में अपना दम तोड़ रही है।[30]

नौटंकी कलाकार प्रायः निम्न जातियों से आते हैं। उनकी सामाजिक पृष्ठभूमि उन दलित जातियों की है, जिन्होंने प्राचीन रजवाड़ों के लिए नाच–गाने का कार्य किया। कालांतर में इन जातियों की स्त्रियों और पुरुषों ने अपनी–अपनी मंडली जिन्हें कम्पनियों का नाम दिया गया बनाई। उन कंपनियों में ख्याति प्राप्त कंपनियां थीं गुलाबबाई, कृष्णाबाई और नंबरदार। गुलाबबाई और कृष्णाबाई दोनों सगी बहनें थीं। वे 'बेड़िया' जाति की थीं। 'बेड़िया' जाति आज अनुसूचित जाति के अनुक्रम में आती है। कानपुर के रेल बाजार और उन्नाव में बेड़िन बहुल बस्ती में स्वयं लेखक को घूमकर और उनके घरों की हालात देखकर बातचीत करते हुए पता चला कि ये महिलाएं परम्परागत राई नृत्य द्वारा संभ्रात परिवार और अभिजात वर्ग का मनोरंजन करती हैं। यह नृत्य गांव में फसल कटने पर मंदिर के आस–पास होता है। कानपुर रेलवे स्टेशन के पास रेल बाजार बस्ती कभी नौटंकी कलाकारों का अड्डा होता था। आज वहां से कलाकारों को उठा/उजाड़ दिया गया है। रेलवे पुल से उतरकर रेल बाजार बस्ती में पहुंचेंगे तो चारों ओर सन्नाटे और उजाड़ पाएंगे। उनके जर्जर होते मकानों से उन्हें बाहर निकालकर सरकार ने उनकी बस्ती तो ढाह दी लेकिन उसके बदले उन्हें कोई छत नहीं दी।

वैसे आज भी बेड़िया जाति की महिलाएं, मधु अग्रवाल (कानपुर निवासी किसी अग्रवाल की रखैल होने के कारण उपनाम रख लिया है।) आशारानी, कुंती, कमलेश व नीलम सुरइया, मुन्नीबाई, सोनतारा, रानी बाला आदि रंगमंच से जुड़ी हैं।

कानपुर के ही दलित समाज के कथाकार एवं नाटककार के. नाथ[31] लिखते हैं कि एक समय नक्कारे की जोरदार ध्वनि से स्त्रियों के गर्भ गिर जाते थे। कानपुर नौटंकी विद्या केन्द्र रहा है। साजिंदे, वाल्मीकि और मुसलमान नाचने वाले और कला करने वाली बेड़िने, बहुत कम पैसे पर उनकी कला बिकती रही हैं, जितने दाम में आजकल पान–मसाले की पुड़िया भी नहीं मिलती।

वहीं के एक स्थानीय कलाकार से लेखक ने बात की। उनके

अनुसार, मैं मूलचन्द उस्ताद (नक्कारावाद) का बेटा हूँ और मेरा नाम लालता प्रसाद है। आठवीं तक पढ़ा हूँ। कुली बाजार कानपुर नगाड़ावाली गली में रहता हूँ। यहीं पर गुलाब जान से लेकर कृष्णाबाई तक आती थीं। सिनेमा ने नौटंकी वालों का काम छीन लिया, अब तो मैं ढोलक मढ़ता हूँ। कभी–कभी तबला मढ़ाने के लिए लोग आते हैं। उस्ताद मूलचन्द के नगाड़े की थाप पर गुलाब जान तथा कृष्णाबाई जैसी कला की महारानी नाचती थीं। औरे जैसे ही गुलाबजान का दादरा 'ठाड़े रहियो ओ बांके यार.....' का उच्चारण फिर घुंघरूओं की छमछमाहट होती! बड़े–बड़े रजवाड़ों के रंगबाजों की जेब से अपने आप रुपये निकलने लगते थे।

मुझे उस दिन पता चला कि उस्ताद जाति के डोम थे। लेकिन इस्लाम स्वीकार करने पर उन्हें पद्मभूषण से सम्मानित किया गया। और हिन्दू धर्म में जब तक वे डोम जाति में थे उन्हें वह सम्मान नहीं मिला।

एक समय ऐसा था जब प्रदेश के मशहूर नौटंकी कलाकार कानपुर के कोयलाघाट पर राग–रागिनी का रियाज करते थे।

दलित साहित्यकार और नाटककार देव कुमार[32] का कहना है कि उत्तर प्रदेश में दलित वर्ग के मनोरंजन का साधन मात्र नौटंकी ही था। दलित वर्ग अपने मनोरंजन के लिए आल्हा, अचरी, कबीर, मंडली, चमर नचना, धोबिया नृत्य, दिवारी गायन, होली के साथ–साथ नवरात्रों में कुल देवियों की स्तुति में गीत गाते बजाते थे। वहां किसी सवर्ण हिन्दू देवियों का नाम नहीं था। कबीर, रैदास, दादू, महात्मा ज्योतिबा फुले, रामास्वामी नायकर, छत्रपति शाहू जी महाराज एवं बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर आदि युग मनीषियों के आन्दोलनों से जब दलित चेतना का विकास हुआ। तो दलित जातियों में विद्यमान उसी कला में दलित चेतना के स्वर नज़र आने लगे।

राजा बली, न दे जान जीम का
ये विष्णु है, छलिया, देश दुनी का

कानपुर के ही राजू नक्कारा नवाज[33] का कहना है कि हमारे पुरखों ने नौटंकी कला को संभालकर रखा था। सम्मान की लड़ाई

लड़ने के लिए हमने नौटंकी वाद्य कलाकार सेवा समिति, 12/527, ग्वाल टोली का कानपुर में गठन किया। उसे संरक्षित करने के हमने भरसक प्रयास किये, लेकिन आज नौटंकी कला का पतन हो रहा है। ऐसे में हम क्या करें?

ब्रांदा से किरन देवी[34] भारती के अनुसार विशेष रूप में उत्तर प्रदेश में नौटंकी में बेड़िन नृतकी होती है। समाज की रीति के कारण हमें नाचने गाने और कहीं–कहीं लोगों के बिस्तर बनने पर भी मजबूर होना पड़ा। ऐसा नहीं था कि सभी नौटंकी कलाकारों को ऐसा करना पड़ा या पड़ता है। इन कलाकारों का गौरवपूर्ण इतिहास भी रहा है। पर आज वैसा नहीं है।

जहाँ लोकनाट्य 'आल्हा' मध्य प्रदेश, बिहार और उत्तर प्रदेश की ग्रामीण जनता में शौर्य और पराक्रम का मंत्र फूंकता रहा, वहीं पर बिहार के मिथिला क्षेत्र में 'राजा सलहेस', जो कि वीर कथानक लोकनाट्य का प्रमुख रूप है, का प्रदर्शन पराधीनता के समय ग्राम्यांचलों में आज़ादी का स्वप्न पालता रहा। इस नाट्य का नायक सलहेस वीर–पराक्रमी और प्रजा–रक्षक है। वह शक्ति की उपासना करता है और अपनी इसी इष्ट देवी की शक्ति के फलस्वरूप वह युद्ध में विजय प्राप्त करता है। वह समाज में फैले दुष्ट प्रकृति वाले लोगों का व दुराचारियों का नाश कर प्रजा में सुख–शांति प्रदान करता है। लोकनाट्य 'राजा सलहेस' में नायक द्वारा किए गए युद्धों का विशद वर्णन किया जाता है और नायक की वीरता का गुणगान किया जाता है।

डॉ. अमरनाथ ठाकुर[35] के विचार में मिथिला में आज भी राजा सलहेस (दुसाध जाति के राजा के रूप में) लोरिकाइन, (यादव जाति से) रइया रनपाल (मंडल जाति से) दीना भद्री (मुसहर जाति से) सभी के नाम शूद्र के रूप में जुड़ते हैं। लोक नाट्य की यही परम्परा है।

बकौल नित्यनंद गोकुल[36] उत्तर बिहार के मिथिला क्षेत्र का सर्वाधिक लोकप्रिय नाट्य, 'जननायक राजा सलेहस' है। यहां मिथिला भाषा बोली जाती है। हर भाषा किसी न किसी संस्कृति की उपज होती है, वह उसमें जन्म लेती है, पलती है, बढ़ती है। पर हर भाषा से उसकी संस्कृति अपना पोषण और सत्यापन भी पाती है। ऐतिहासिक

दृष्टि से यह क्षेत्र वही है जिसे हम विदेह तिरहुत आदि नामों से जानते हैं। आरंभ में विदेह, राज्य का नाम था और मिथिला इसकी राजधानी थी।

सच पूछा जाए तो मिथिला की लोक संस्कृति बसती है लोकनाट्यों में लोकगाथाओं में, लोकगीतों में, लोकपर्वों में, लोकचित्रों में तथा लोक जीवन में। यहां का जनजीवन आज भी अपनी सांस्कृतिक विरासत को संजोए हैं। यहां की अधिकांश आबादी गांवों में ही बसती है। इस भू–भाग में रहने वाले दलित और पिछड़े वर्ग के वे बड़े जनसमूह, जिन्हें राष्ट्र की मुख्यधारा से वंचित रखा गया। उन्होंने अपना सारा श्रम लोक संस्कृति के विकास एवं संरक्षण में झोंक दिया। यही मूल कारण है कि मिथिला के अधिकांश लोकनाट्यों के जन्म इन्हीं लोगों के बीच हुआ, जिसमें राजा सलहेस भी थे जो दुसाध थे।

इतिहासकारों का मानना है कि छठी शताब्दी के पांचवें दशक तक आते–आते गुप्त साम्राज्य का पतन हो चुका था। सातवीं शताब्दी के प्रारम्भ में जब हर्षवर्धन भारत की छिन्न–भिन्न राजनीतिक एकता को एक सूत्र में बांधने का प्रयास कर रहा था। उन्हीं दिनों यानी 550 ई. से 606 ई. के बीच गुप्त साम्राज्यों के अवशेष पर समस्त उत्तर भारत में जिन अनेक छोटे–छोटे राज्यों का उदय हुआ उनमें उत्तर बिहार के नेपाल सीमा पर महिसौथा गढ़ का साम्राज्य भी बना। यही महिसौथा गढ़ राजा सलहेस की राजधानी थी, जो नेपाल के महोतरी की पूर्वी सीमा से 15 मील पश्चिम और भारत–नेपाल की सीमा से 12 मील पर है। मिथिला के प्राचीनतम ग्रंथ ज्योतिरिश्वर के वर्णत्नाकर में भी लोकनाट्यों की चर्चा है यानी तेरहवीं शताब्दी से पहले इसका प्रचार–प्रसार प्रचुर मात्रा में हो चुका था।

मिथिला में आज भी राजा सलहेस की कथा दो रूपों में मिलती है। पहला सलहेस नाच या नाट्य तथा दूसरा लोकगाथा गायन या भगैत के रूप में। पहला रूप लोक मनोरंजन के लिए होता है, जो रंगमंच पर अभिनीत किया जाता है, दूसरा आध्यात्मिक भावना के लिए किया जाता है। दोनों की प्रस्तुति के स्वरूप में फर्क है, लेकिन लगभग कथावस्तु दोनों की समान ही है। व्यवसायिक दृष्टिकोण से आज

भी मिथिलांचल में कई पार्टियाँ हैं, जो सलहेस नाच, साटा पर (पैसा लेकर) करते हैं, जैसे कन्हैया नाच पार्टी, कमलपुर, तिसियाहीवाला नाच पार्टी, रैमा, बासुकी बिशटी नाच पार्टी, अगोरोपट्टी, गंगाराम सलहेस पार्टी, कलुबाही, मधुबनी आदि। इसमें अधिकांश लोग दुसाध जाति के होते हैं।

डॉ. फूलो पासवान ने अपने लेख 'मैथिली दलित वर्गीय लोकनाट्य' में स्पष्ट किया है कि – जयवर्द्धन राजा सलहेस तथा चुहड़ दोनों दुसाध जाति के लोक देवता के रूप में प्रसिद्ध हैं। लगभग हरेक गांव में उनका एक टोला होता है और उस टोले के बीचों–बीच सलहेस का गहबर (मंदिर) बना होता है। इस गहबर में मिट्टी की भव्य मूर्ति के रूप में विराजमान होते हैं – राजा सलहेस। विशालकाय हाथी जिसका नाम झुमरा होता है, उसकी पीठ पर सवार शौर्य मुद्रा में, माथे पर तिरछा मुरेठा (पगड़ी) कंधे पर तीर–धनुष रखे राजा सलहेस अपनी दोनों बगल – एक घोड़े पर सवारी करते उनके भगिना करकन्हा तथा दूसरी ओर परमवीर योद्धा भाई मोतीराम की मूर्ति शौर्य मुद्रा में लगी होती है। डॉ. ग्रियर्सन ने बिहार पीजेंट लाइफ में इस गहबर का परिचय देते हुए लिखा है कि 'तिरहुत के गांव में पीपल के नीचे साधारण मिट्टी का चबूतरा रहता है जिसमें गाथा से संबंधित व्यक्तियों की मूर्ति, सलहेस की मूर्ति के आगे–पीछे बनी रहती है और सलहेस हाथी पर सवार रहते हैं, जिनकी दुसाध लोग पूजा करते हैं।

सलहेस नाच का प्रदर्शन बहुत ही मनोरंजक ढंग से आज भी मिथिला के कई गांवों में पूरे जोश के साथ लगातार दस रातों तक किया जाता है। प्रत्येक गांव में इसके लिए चबूतरानुमा स्थायी मंच बना है। गांव का कोई भी व्यक्ति इस प्रदर्शन के लिए चौकी देने को तैयार नहीं होता है, क्योंकि अभिनेता अपने अभिनय के क्रम में उछलते हैं तो चौकी टूट जाती है। इसलिए कुछ लोग इसे चौकीतोड़ नाच कहकर परिहास भी करते हैं। पीछे के बांस के सहारे एक पर्दा लटकता रहता है, जिसके एक भाग में जंगल तथा दूसरे भाग में राजमहल का चित्र बना होता है। इसके आगे गाने वाले तथा बजाने वाले अपने साज के साथ बैठे रहते हैं। साज में होता है – हारमोनियम, नगाड़ा, साथ में दो डुगडुगी, ढोलक, बांसुरी, कॉरनेट

तथा झाली। पार्टी लीडर ज्यादातर हारमोनियम मास्टर ही होता है जो गाता भी है तथा टीम की आर्थिक मदद भी करता है। कार्यक्रम शुरू होने से पहले कुछ चलती धुन बजती है, जो उस समय का हिट गीत होता था। इतने में मंच के सामने अपार भीड़ इकट्ठी हो जाती है। भीड़ को देखकर चाय–पान, बीड़ी–सिगरेट, मुरही–कचरी की दुकान भी सज जाती है यानी कार्यक्रम पूरी रात चलने का पूरा माहौल तैयार हो जाता है। उद्घोषणा होती है – 'प्रस्तुत अछि सलहेस नाच...' (अब प्रस्तुत है सलहेस नाच)[37]

अचानक नगाड़े की गगनभेदी गड़गड़ाहट के साथ कुछ महिलाएं मंच पर भड़कीले रंगों की साड़ी पहने आती हैं। असल में ये महिलाएं नहीं होती हैं, पुरुष ही महिलाओं का रूप धरकर आते हैं, मगर इनके बाल असली होते हैं। सारे कलाकार पहले साज–बाज को प्रणाम करते हैं – जो लगभग आधा घंटा चलता है। इसकी कुछ पंक्तियाँ देखें –

पूरब में सुमिरन करै छी, उगन दीनानाथ के
आ पश्चिम में सुमिरन करैछी मीरा सुल्तान के
उत्तर में सुमिरन करै छी पांचों पांडव भीम के
जेकर नैया चलय छै संसार में
दखिन में सुमिरन करै छी
गंगा माई के जकर जत्न से, शीतल हो प्राण।

यह प्रायः देखा गया है कि मिथिला के मुस्लिम जितनी श्रद्धा से अकबर का नाम लेते हैं, उतनी ही श्रद्धा से सलहेस का भी नाम लेते हैं। यही वजह है कि सलहेस नाट्य में उर्दू के शब्द अधिक पाए जाते हैं, जैसे – हुकुम, गाजिर, मुसाफिर, सुल्तान आदि–आदि। सुमिरन के समाप्त होते ही शुरू होता है प्रमुख पात्र यानी नायक सलहेस का परिचय। वह भी गीत में ही है –

हमारो जे घर यौ पंचम राज महिसाथा में छै
तीन भइके भैयारी हमरा, महिसौथा में लगै छै ने हो
हमानो जे नाम यौ पंचम, राजा सलहेस छै

मझिला के नाम छै, मालिक मोतीराम दुलरूआ ने हो
छोटका के नाम, मालिक बौआ बुधेसर लगै छै
हमारो जे सौरव यौ पंचम फूल–गूल लगाबै के छै ने हो।

गीत में ही गाकर कह दिया जाता है कि सलहेस महिसौथा के राजा हैं। वे तीन भाई हैं, जिनमें वे बड़े हैं, बीच वाले का नाम है मोतीराम तथा छोटे का बुधेसर। सलहेस की एक बहन भी थी जिसका नाम है बनसपती। उसका एक ही बेटा यानी सलहेस का एक ही भांजा था, जिसका नाम था करिकन्हा। हरेक पात्र बारी–बारी से अपना परिचय गीत के माध्यम से ही देता है और दृश्य समाप्त होता है।

फिर जब दृश्य आरंभ होता है तो महल वाले पर्दे के सामने नगाड़े की चोट पर तरेगनागढ़ के राजा महेश्वर भंडारी मंच पर चहलकदमी कर रहे होते हैं। इनकी चार बेटियां हैं – रेशमा, कुसुमा, दौना और फुलवंती। ये मालिन जाति की हैं पर प्रेम करती है सलहेस से। ये सब सलहेस को पाने के लिए तरह–तरह की चाल चलती हैं। लेकिन कहानी तब नया मोड़ लेती है जब सलहेस की शादी बनाटपुर के राजा की बेटी सतवर्ती (सत्यवती) से तय हो जाती है। इस विवाह को रोकने हेतु तरेगनागढ़ की राजकुमारियों ने बहुत कोशिश की। सलहेस को इन लोगों ने सुग्गा बनाकर कैद भी कर लिया, लेकिन सलहेस का भाई अपने प्रभाव से सलहेस को उनके चंगुल से छुड़ाकर लाता है और पूरे उल्लास के साथ सलहेस की शादी करवाता है। मिथिला में शादी के बाद द्विरामगन (गौना) की प्रथा है। सलहेस के गौना के समय तरेगनागढ़ के राजा बनाटपुर के राज्य से मिलकर दुश्चक्र रचता है, जिसके कारण सलहेस को युद्ध करना पड़ता है।

बिहार के ही संथाल परगना में प्रचलित 'सिद्धू–कान' नाटक विशेष रूप से प्रचलित रहा है। संथाल आदिवासियों के बीच 'सिद्धू –कानू' एक महान योद्धा और वीर पुरुष के रूप में पूजित हैं। प्रत्येक संथाली उनकी वीरता पर गर्व करता है। उनके शौर्य और पराक्रम की कहानियाँ उनके रूपों में दुहरायी जाती रही हैं। सिद्धू और कानू

ऐतिहासिक चरित्र हैं। इन्होंने अंग्रेज़ों के खिलाफ आदिवासी समाज को संगठित कर संघर्ष किए।

उत्तर प्रदेश के फर्रुखाबाद के लक्ष्मण नंगला गाँव के एक साधारण परिवार में जन्मे संजीबा की कलाकारी ऐसी रंग लाई है कि थोड़े ही दिनों में उनकी पहचान युवा नाटककार के रूप में बनी है। उनके क्रांतिकारी रंगकर्म से जहां गरीबों को न्याय मिला है, वहीं सत्ता के दलालों, पुलिस सहित अन्य विभागों के भ्रष्ट अधिकारियों के मन में भी दहशत छाई है, क्योंकि संजीबा नाटक करते हैं पर वैसा नाटक नहीं, जो देश के बाकी हिस्से में हो रहा है। वह नाटक नहीं, जो किताबों के पन्नों में सुरक्षित है या जो प्रक्षागृहों तक महदूद है। नाटक के लेखक, निर्देशक और मुख्य सूत्रधार संजीबा स्वयं होते हैं और नाटक की कहानी महानगर के आम लोगों की जिंदगी होती है।[38]

बहुआयामी प्रतिमा के धनी संजीबा नाटक के विषय अन्यायपूर्ण घटनाओं के बीच से उठाते हैं। उनके नाटकों में जहां गरीबों की पक्षपरता पर जोर होता है वहीं उन पर जुल्म ढाने वालों पर तीखा प्रहार भी होता है। वहीं कानपुर के ही देवकुमार सोनकर लगभग एक दशक से दलित समाज के भीतर अम्बेडकरी दर्शन को लाने में प्रतिबद्धता के साथ नाट्यकर्म से जुड़े हैं।

उनके नाटकों की शैली नौटंकी और नुक्कड़ नाटकों से मिलती–जुलती है। समय–समय पर लोक कला, लोक गीत, इन सबकी मिलीजुली प्रस्तुति जब कानपुर शहर की गलियों, बस्तियों, बाजारों तथा पुलिस थानों के बिल्कुल सामने होती है तो आम आदमी प्रभावित हुए बिना नहीं रहता।

बकौल रत्नकुमार सांभरिया लोक साहित्य की नाट्य कला सांग, लोक कला का अभिन्न अंग है। इसमें कला के विभिन्न रस–छंद, काव्य, नृत्य, गायन व संगीत मौजूद रहते हैं। सांग साहित्य की पद्य और गद्य दोनों विधाओं का प्रतिनिधित्व करता है। इसमें पद्य का मूल तत्व गेय है, जो संगीत के संचरण के साथ कथानक को गति देता है। कथानक को समझाने तथा उसे आगे बढ़ाने के लिये नायक सूत्रधार का पार्ट अदा करता है। ''सज्जनों'' के संबोधन से नरेशन

करता है, संवाद जिसे सांग की भाषा में ''बोल'' कहा जाता है, वे पद्य (गायन) और गद्य (कथा रूप) दोनों में होते हैं। कथोपकथन (संवाद) नायक–नायिक के चरित्र विरूपण में सहायक होते हैं।[39]

लोकवाणी में सांग या सवाग की आंचलिक संज्ञाएं हैं। संपूर्ण हरियाणा और राजस्थान के कुछ जिलों अलवर, झुझुंनूं, चुरू, सीकर, मेवात का कुछ भाग तथा उत्तर प्रदेश के मेरठ में इसे सांग भी कहा जाता है। कई ग्रामीण अंचलों में भगत भी प्रयुक्त है। कई जगह इसे नौटंकी भी कहा जाता है।

कला मर्मज्ञ और लोक नाट्य रूपों के गंभीर अध्येता विजय वर्मा ने नौटंकी को पारसी थियेटर के निकट होने तथा इसका शहरीकरण हो जाने के कारण सांग से भिन्न बताया है।

नौटंकी में शहर समा गया। सांग का स्वांग गांव रहा। कहने का आशय यह कि नौटंकी पारसी थियेटर का आयतित रूप हो गई। साज–बाज संगीत से लेकर सांगीत तक।

डॉ. पूर्णचंद शर्मा पंडित लखमीचंद ग्रन्थावली की भूमिका में हरियाणा के 'सांग' की एक अभिनव परिभाषा प्रस्तुत करते हैं – ''लोकनाटक सांग हरियाणा की नाट्य परम्परा का सिरमौर है जिसे यहां का कौमी नाटक भी कहा जा सकता है। हरियाणा की जनरंजनकारी यह विधा वस्तुतः गीत–संगीत और नृत्य की मनमोहक त्रिवेणी है, जिसमें सर्वाधिक मजेदार है इसके गीतों की गमक। गीत हरियाणवी 'सांगो' के प्राण होते हैं। सांगो का ताना–बाना सतरंगे गीतों के कला तंतुओं से बुना जाता है। सांग में यह रागनी का जादू ही है, जो सिर चढ़कर बोलता है। एक हाथ कान पर रख कर और दूसरे को आकाश में उठाकर अभिनेता जब एक विशेष अंदाज में अपनी रागनी गाता है तो समा बंध जाता है। इन सांगों में लोकप्रिय कथानकों के आधार पर गीतों के माध्यम से अभिनय द्वारा रस की ऐसी वर्षा की जाती है कि मुक्त मंच के चारों ओर बैठे दर्शक रागनियों की स्वर लहरियों में मंत्रमुग्ध से हो जाते हैं। सावन की तरह बरसते संगीत की फुहारों में उनके मन–मोर नाच उठते हैं।''

सांग का उद्भव व विकास – मेरी राय में सांग की जन्म स्थली गली मोहल्ले के नुक्कड़ हैं। होली के रंग और हुड़दंग के दिनों

में प्रायः उसी जाति–बिरादरी और मोहल्ले के लोगों द्वारा स्थानीय दर्शकों के मनोरंजन के लिये सांग किये जाते थे। यहां ''स्वांग भरना'' उद्‌बोधन ज्यादा समीचीन जान पड़ता है। नुक्कड़ के सांग की सुखद और गुदगुदा देने वाली बात यह हुआ करती कि उसी गांव या गुवाड़ी के लोगों या जाति पर सांग का प्रदर्शन किया जाता था। आनंदातिरेक तब होता, जब किरदार और कलाकार रूबरू रहते। किरदार अपनी चर्चा या व्यवहार पर निकाले सांग पर स्वयं हंस–हंस दोहरा हो जाता। पास बैठा दर्शक पात्र को उंगली गड़ा कर या कुहनी मार इंगित कर आनंद को अनन्य बना देता था। न आक्रोश, न क्रोध, न क्षोभ, न द्वेषभाव और न ही पूर्वाग्रह का पुट। हंसी ठिठौली और हास का बेलाग दंगल। भंड़ैती आसमान के तारे तक हंस पड़ते।

मजा तब चौगुणा हो जाया करता जब किरदार स्वांग भरने वाले कलाकार की पीठ थपथपा कर या अल्पराशि बतौर प्रशंसा भेंट कर उसे दाद देता था। कई दिनों तक किरदार और कलाकार की चर्चा गली–मोहल्ले में रहती थी। अगली होली पर उसी सांग की मांग उठती।

तख्त – सांग प्रदर्शन में तख्त का महत्वपूर्ण स्थान है। नाटक मंचन के स्थान को ''मंच'' कहा जाता है। सांग मंचन की जगह का आंचलित शब्द ''तख्त'' है। नाटकों के प्रदर्शन के लिये जहां पर्दों से सुसज्जित मंच पर नेपथ्य के दृश्य परिवर्तन के साथ अर्द्धपटापेक्ष होता है और सामने बैठे दर्शक ही अभिनीत नाटक को देख सकते हैं। तख्त चारेां ओर से खुला होता है और जनता उसके चारों ओर बैठ कर सांग कला का लुत्फ उठाया करती है कलाकार तख्त के चारों कोनों पर अपने अभिनय का प्रदर्शन करते हैं और चारों कोनों पर रागनियाँ, टेक या चौबोले गाये जाते हैं। गांवों में प्रायः बिजली का अभाव रहा है। अतः तख्त के चारों कोनों पर गैस बत्ती (पैट्रोमैक्स) टंगी होती थी। एक समझदार आदमी इन गैसों में हवा भरने के लिये मुस्तैद रहता था। वह तख्त के पास बैठा सांग देखने के साथ–साथ गैस के मद्धिम होने पर भी बराबर निगाह रखता था।

जनाना भेस नृतक तख्त के चारों कोनों पर नाचने, ठुमके लगाने,

कूल्हे मटकाने और शक्ति सामर्थ्य के साथ अपनी नृत्य कला प्रदर्शन का भरपूर अवसर पाते थे। साजिंदे ढोलक, हारमोनियम आदि के साथ उसी तख्त पर बैठकर सांग की संगत करते। सांग के लिये तख्त के उपयोग का एक बड़ा कारण यही भी प्रतीत होता है कि गांवों के लिये थियेटर कल्पना से बाहर की बात रही है। अतः गांव के बाहर की खुली जमीन तथा खेत तख्त के रूप में प्रयुक्त हुए। सांग प्रायः अपने गायन वादन के दम पर होते हैं। इनमें नाटकों की भांति कलाकारों को पात्रों के अनुकूल वेशभूषा बदलने की जरूरत भी नहीं रहती है। हल्का फुल्का सा आवरण तख्त पर ही धारण कर लिया जाता है। सांग के किरदार की भूमिका में नायक अथवा नायिका द्वारा तख्त के चारेां कोनों पर अभिनय करने और चौबोला गाये जाने का रिवाज है।

हरियाणा की माटी लोक नाट्य सांग के लिये उर्वरा रही है। यहां एक से बढ़कर एक सांगी (सांगीत) हुए। उन्होंने अपनी सृजनात्मक मेधा के साथ सांग को गरिमा दी। जिन सांगीतों ने सांग के क्षेत्र में परवाज़ भरी, उनमें बाजे भगत, मा. मूलचंद, मानसिंह जोशी, पं. लखमीचंद, पं. मांगेराम, पं. रामकिशन व्यास, धनपत सिंह, चन्द्रबादी, रामकुमार खालेटिया और मा. नेकीराम के नाम उल्लेखनीय हैं। पं. लखमीचंद के नाम पर हरियाणा की कला, संस्कृति, इतिहास और लोक साहित्य के उन्नयन के लिये हरियाणा साहित्य अकादमी द्वारा पं. लखमीचंद सम्मान दिया जाता है।

संगीत में पं. लखमीचंद, पं. मांगेराम और मा. नेकीराम का परचम ऊँचा रहा, ऐसी आम राय हैं, दीगर बात यह कि ये तीनों ही समकालीन थे। पं. लखमीचंद का जन्म 15 जुलाई, 1903, पं. मांगेराम का जन्म जुलाई, 1905 और मा. नेकी राम का जन्म 6 अक्टूबर 1919 में हुआ। पं. लखमीचंद और पं. मांगेराम ब्राह्मण कुल में जन्मे। मा. नेकीराम ने मेघवाल (बुनकर) नामक दलित जाति में जन्म लिया।

मा. नेकीराम जाति से भले ही माड़े (कमजोर) रहे हों, लेकिन सांग कर्म मे ंवे किसी भी दृष्टि से कमजोर न थे। सांग अभिनय और सांग–काव्य में ही वे सिद्धहस्त थे। विडम्बना यह है कि जाति उनके नामोल्लेख में आड़े आई और लोक साहित्य सांग में उनकी

चर्चा नगण्य रही, जबकि सांग के स्वर्ण काल में उनकी आहूति मील का पत्थर है।

उस समय पंजाब प्रांत (1 नवंबर 1966 को हरियाणा राज्य का अलग से गठन हुआ) के गुड़गांव जिले, जो अब रेवाड़ी जिले में है, के छोटे से गांव जैतड़ावास में पैदा हुए नेकीराम को सांग कला विरासत में मिली। उनके पिता मा. मूलचंद अपने समय के नामचीन सांगीत रहे। अंग्रेज़ों के उस जमाने में, जब साम्राज्यवाद का आतंक काले मेघों की भांति पूरे देश पर आच्छादित था, उन्होंने देश प्रेम की रागनियां गाई ओर जातिभेद तथा छुआछूत जैसी कुरीतियों के विरुद्ध आवाज उठाई। उनका रुतबा रहा। संभवतः वे दलित वर्ग के प्रथम सांगी थे, जिन्होंने सांग मण्डली बनाई और तख्त पर अपनी अभिनय कला और काव्य कल्पना का सिक्का जमाया। उन्हीं मूलचंद के पुत्र और शार्गिद नेकी राम के लिये सांग पैतृक संस्कार रहा।

जैतड़ावास गांव छोटा था और शिक्षा का प्रसार उन दिनों कम था। नेकीराम ने समीपवर्ती गांव भाड़ावास में अपनी प्राइमरी तालीम पाई। मूलचंद के द्वारा खेले जा रहे सांग में नेकीराम ने राजकुमार के अपने रोल में उस समय के नामी गिरानी सांगीत पं. लखमीचंद से इस कामना के साथ शाबाशी ली कि बालक सांग में नाम कमाएगा।

मा. नेकीराम ने सांग कला का समूचा प्रशिक्षण अपने पिता सांग मर्मज्ञ मा. मूलचंद से लिया था। हालांकि वे उन्हीं के शार्गीद थे, लेकिन उन्होंने राजस्थान के अलवर जिले के गांव सामधा मंदिर के बाबा गरीबनाथ के शिष्य और उनकी गद्दी के प्रथम उत्तराधिकारी बाबा गोपाल नाथ का गुरू सुमरन किया। बाबा गरीबनाथ के प्रति उनकी अटूट श्रद्धा रही। जब तक उनमें सांग करने की सामर्थ्य रही, चैत्र माह कृष्ण पक्ष की पंचमी को सामधा में भरने वाले बाबा गरीबनाथ के मेले में अपने सांग का आयोजन किया। दलित जाति के मेघवाल वंश में जन्मे बाबा गरीबनाथ के मेले में अपने सांग का आयोजन किया। दलित जाति मेघवाल वंश में जन्मे बाबा गरीबनाथ ने तत्कालीन सामंतशाही से अपनी तेजस्विता का लोहा मनवाया। उन्होंने जात–पात और अस्पृश्यता को नेस्तनाबूद करने के लिए डॉ. अम्बेडकर के मिशन को गति प्रदान की।

मां. नेकीराम ने भक्त पूर्णमल, चापसिंह–सोमवती, नौटंकी–फूलसिंह, राजाभोज, लीलो–चमन, रूपद्य–बसंत, हीर–रांझा और सेठ ताराचंद आदि सांगों का सृजन कर उन्हें खेला।

उनकी सांग की भाषा में हरियाणा की अहीरवाटी और जाटोती दोनों ही बोलियों का पुट रहा। उनका शब्द संसार ठेठ आंचलिक था। उनकी रागनियों में आये बिंब, प्रतीक, उपमाएं, शब्द संयोजन और वाक्य अनुशासन काव्य संपन्नता के द्योतक हैं।

मा. नेकीराम के सांगों का प्रशंसनीय पहलू यह था कि उनके सांगों ने श्लीलता की सीमा कभी नहीं लांधी। पं. लखमीचंद की भांति उनकी रागनियों में स्त्रियों के लिये बदकार, रण्डी, निर्भाग, लुगाई, चुड़ैल, डंकणी, नागिन, बैरन, मानसखाणी, कुणबाखानी जैसे लांछित करने वाले शब्द प्रयुक्त नहीं हुए और ही वर्ण व्यवस्था और ऊंच–नीच की भावनाओं का प्रतिपादन ही हुआ है। वे स्वयं और उनकी सांग मण्डली भाषा–व्यवहार की दृष्टि से संयमित रहते थे। उनके सांगों को मां–बेटी, बाप–बेटी, सास–बहू और पिता–पुत्र साथ बैठ कर देख सकते थे। मजाल कि अश्लीलता की एक छींट उछल जाए।

सांग पारखी डॉ. शिवराज सिंह ने 'मा. नेकीराम सांग समग्र' का संकलन किया है। उन्होंने मास्टर जी के बारे में लिखा है। ''उन्होंने (मा. नेकीराम ने) प्रमाणित कर दिया कि 'मैन इज दॉ स्टाइल इट सैल्फ'' अभिव्यक्ति की शक्ति ही व्यक्ति की पहचान बनाती है। उनकी अद्‌भुत गायन शैली, विलक्षण अभिनय व जादुई व्यक्तित्व का कौन दर्शक दीवाना नहीं हुआ होगा।''

मा. नेकीराम के सांग हरियाणा, दिल्ली, राजस्थान, मध्यप्रदेश, हिमाचल प्रदेश, उत्तर प्रदेश, बिहार जैसे हिन्दी प्रदेशों में ही लोकप्रिय नहीं हुए, पंजाबी भाषी राज्य पंजाब में भी ख्याति पाई। भारतीय सीमा का अतिक्रमण कर उनके सांगों ने अफगानिस्तान, भूटान, रंगून और पाकिस्तान में भी परचम फहराया। फौजी भी उनके सांग के रसिक रहे। विशेष उत्सवों पर सेना की कम्पनियों में उनके सांग हुआ करते थे।

बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर का यह नारा कि 'शिक्षित बनो' मा.

नेकीराम का आदर्श था। शिक्षा का दीप घर–घर जगमगाने के लिये वह कृत संकल्प थे। अशिक्षा और अंधविश्वास से उन्हें सख्त नफरत रही। उन्होंने स्कूल भवन निर्माण के लिये चंदा इकट्ठा करने के लिए सांग किये। वे दस–दस दिन एक–एक गांव में ठहरे। ऐसे सद्कार्यों के लिये न कभी उन्होंने साही (एडवांस) ली और न ही मेहनताना लेकर सांग किया। राजस्थान और हरियाणा के कितने ही गांवों में बने स्कूल, बावडियां, गोशालाएं और धर्मशालाएं उनके सांगों की देन हैं।

साहित्य कर्म की क्षमता क्षीण हो जाने के उपरांत वे 'दलित न्याय पंचायत' के अध्यक्ष बने। उन्होंने दलित जातियों को एकत्रित कर छुआछूत, जातिभेद, मद्यपान जैसी कुरीतियों से निजात पाने का आहवान किया। उन्होंने वर्णवादी, जातिवादी, विषमतावादी और अलगाववादी ताकतों का विरोध किया और समता मूलक जातिविहीन समाज, सर्वजन सम्मान की बात कही।

10 जून 1996 को 60 वर्ष के सांग–कर्म के बाद 77 वर्ष की उम्र में सांग का यह सितारा अस्त हो गया।

मा. नेकीराम के नहीं रहने के बाद उनके पुत्र श्री राजेन्द्र सिंह ने उनकी सांग विरासत संभाली। लेकिन मास्टर जी जैसा ओजस्वी व्यक्तित्व और जोशीला स्वर नहीं होने के कारण वे सांग प्रभाव नहीं छोड़ सके। उनके असामयिक निधन के बाद तो दक्षिणी हरियाणा से लोकनाट्य की सांग परम्परा का अवसान ही हो गया।

सुखद एवं सराहनीय बात यह है कि हरियाणा साहित्य अकादमी ने मास्टर नेकीराम की स्मृति में उनके गांव जैतड़ावास में सांग प्रतियोगिता का आयोजन करवाया। अकादमी के निदेशक देश निर्माही जी ने स्वयं अपने कर कमलों से 16 दिसम्बर 2007 को ''लोककवि मास्टर नेकीराम पुस्तकालय'' की स्थापना की।

देखा जाए तो उनके नाटक मौलिक तथा प्रासंगिक हैं। यह सदियों से चली आ रही समाज व्यवस्था के नैतिक नियमों पर प्रश्न चिन्ह भी लगाता है। यह नाटक रंगमंच के अलावा नुक्कड़ नाटक के रूप में भी खूब खेला गया है। अपने विचारोत्तेजक कथ्य के कारण यह विवादास्पद भी रहा है।

साहित्यिक विधाओं में नाटक दृश्य विधा है। रंग–मंचीय साज–सज्जा प्रेक्षागृह के अनुरूप इसका विधान किया जाता है। यह अभिव्यक्ति का ऐसा सूत्र है, जो दर्शक को पर्याप्त रूप से बांधे रखने में सक्षम है, दूरदर्शन सिनेमा इसके विकसित रूप हैं। लेखन के क्षेत्र में इसकी लोकप्रियता यह साबित करती है कि आज कविता, कहानी, उपन्यास सभी का नाट्य–रूपान्तरण किया जाने लगा है।[40] स्पष्ट है कि विधा के माध्यम से जन सामान्य तक संदेश सहज रूप से पहुँच जाता है। परिणामतः आधुनिक युग में इसका अत्याधिक लेखन किया जाने लगा है। विविध सन्दर्भों की प्रासंगिकता को ध्यान में रखकर इसके कथ्य का निर्माण किया जाता है। वर्तमान समय में नाट्य विधा का लोकप्रिय रूप में दिखाई देता है। यह व्यंगात्मक तथा कटाक्षपूर्ण होता है। व्यवस्था पर, सामाजिक विकृतियों पर, मानवीय संदर्भों को लेकर नुक्कड़ नाटकों का लेखन होता रहा है। सबसे अधिक नुक्कड़ नाटक प्रशासन के क्रिया–कलापों पर लिखे गये हैं इसलिए उनमें राजनीतिक बहस अधिक होती है।[41]

नुक्कड़ नाटक का संदर्भ सामान्यतः सामाजिक और राजनीतिक होता है, समय सीमा के कारण यह नाटक का संक्षिप्तिकरण है। इसलिए कई नाटकों को नुक्कड़ नाटक के रूप में खेला गया है। नाटक में व्यापकता होती है, वह किसी विषय पर चिंतन का पूरा अवसर देता है। वह दर्शक को देर तक प्रभावित करने की कोशिश करता है। इसके विपरीत नुक्कड़ नाटक नारेबाजी, कटाक्ष, तथा विवाद के माध्यम से बहस का प्रयास करता है। दर्शक उस बहस में शामिल होते हैं तथा प्रेषित विचारों पर क्षणिक चिंतन–मनन के माध्यम से, हाँ या ना की स्थिति में निर्णय लेते हैं। नुक्कड़ नाटक चूंकि नाटकों का संक्षिप्तिकरण है तथा विचारधारात्मक बहस है इसलिए इसका प्रभाव जन–सामान्य पर शीघ्र पड़ता है, लेकिन नाटक अपनी सफलता में गहरे प्रभावी होते हैं इसीलिए दृश्य माध्यम मंच, सिनेमा एवं दूरदर्शन पर इनकी प्रस्तुति बेहद आकर्षक होती है। इसके कथ्य में आने वाले सभी पात्र यथास्थान अपनी प्रतिभा का पूर्ण प्रदर्शन कर इसे जीवंत बनाने की कोशिश करते हैं।[42]

नाटक को कला रूप में देखने की प्रवृत्ति आधुनिक युग में विकसित

हुई। उससे पहले यह मात्र साहित्यिक रचना मानी जाती थी। नाटक के निमित्त अनुकृति, मंचन, गेयता आदि का प्रयोग भावाभिव्यक्ति का माध्यम है। नाटक की भाषा भावाभिव्यक्ति के प्रदर्शन में निहित होती है। अतः नाटक के सम्प्रेषणीय माध्यम भावाभिव्यक्ति हैं। शब्द उन भावाभिव्यक्तियों के संकेतक सूत्र हैं। नाटक को पूर्णतः साहित्यिक विधा कहना ठीक नहीं है। यह एक कला भी है। नाटक के पात्र अपनी प्रतिभा से मंतव्य को दर्शक तक संम्प्रेषित करने का कार्य करते हैं अतः नाटक के पात्र, मंच–संयोजक, लेखक, निर्देशक तथा सामाजिक सभी इसे कलारूप देते हैं।

बहुत दिनों तक यह धारणा थी कि नाटक संभ्रात वर्ग के मनोरंजन का साधन है। अंग्रेजों के भारत में आने के बाद नये शासक वर्ग के बीच यह विधा उच्चवर्गीय भावबोध को प्रदर्शित करने का माध्यम रही यद्यपि अंग्रेजी नाटकों में यह प्रवृत्तियाँ अधिक दिखाई देती हैं। जहाँ निम्नवर्गीय चरित्र अति आवश्यक होने पर संक्षेप में प्रस्तुत किए जाते रहे और कथा उच्चवर्गीय पाठकों के भाव–बोध, शैली और परम्परा को प्रदर्शित करती थी, इनकी प्रस्तुति जन सामान्य के बीच में शासकवर्ग की वैभव, प्रतिभा एवं उच्चवर्गीय भावबोध को जनसामान्य पर थोपने का काम करती रही है वहाँ आवाम अपने शासकों के प्रति विशेष आदर का भाव रखती थी।[43]

साहित्य में नुक्कड़ नाटक आधुनिक विधा है। नाटक से इतर जन–सामान्य के जीवन की विद्रुपता, जटिलता, पिछड़ापन एवं शोषण को उन्हीं के बीच बिना किसी रंगमंच एवं साज सज्जा के इसे प्रदर्शित किया जाता है। नाटक एक ओर जहाँ अभिजात्यवर्ग के मनोरंजन का साधन हो गया है वहीं नुक्कड़ नाटक जन–सामान्य के पिछड़ेपन एवं शोषण की विभिन्न प्रवृत्तियों को प्रदर्शित कर जन–जागृति का प्रयास करता है। नाटक और रंगमंच की दुनिया में ''नुक्कड़ नाटक'' शब्द अब नया नहीं रहा। पिछले कई वर्षों से यह शब्द नाटक के उस रूप के लिए प्रयुक्त किया जा रहा है, जिसमें रंगकर्मी पारंपरिक मंच नाटक की परम्परा, उसके तमाम लटके–झटके, प्रकाश, ध्वनि संयोजन, मेकअप, मंच सज्जा आदि से अलग होकर नाटक के नुक्कड़ों, चौराहों पार्क, स्कूल–कॉलेज

के मैदानों या फिर किसी खुली जगह में बिल्कुल नये ढंग एवं नये तेवर के साथ प्रस्तुत करते हैं। नाटक का यह रूप थोड़ी देर के लिए दर्शकों को यात्रा, तमाशा व भवई आदि प्रचलित लोक नाट्य शैलियों की याद दिलाता है, परन्तु इसके सम्पूर्ण प्रभाव को देखकर दूसरे ही क्षण दर्शकों को यह सोचने के लिए बाध्य होना पड़ता है कि नाटक का यह रूप निश्चित तौर पर कुछ नई मौलिकताओं के साथ उभरा है।[44]

कथ्य के स्तर पर जहाँ यह देश की वर्तमान सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक समस्याओं से सीधे जुड़ा हुआ है वहां तकनीकी स्तर पर अपनी कुछ खास खूबियों को साथ लिए हुए है। पारंपरिक मंच नाटकों के विपरीत मंच और दर्शकों के बीच की दूरी पाटते हुए जनता से सीधे साक्षात्कार करना, रंगकर्मियों का भीड़ में से ही निकलकर दर्शकों को कुछ बताना और फिर तामझाम से उत्पन्न भ्रम को तोड़ते हुए आम जीवन को यथार्थ से सीधे जुड़ना आदि, आदि....। इस तरह नुक्कड़ नाटक विभिन्न नाट्य प्रयोगों जैसे ''मंच मुक्त नाटक'' ''पोस्टर प्ले'', ''थर्ड थियेटर'' आदि से अलग अपना एक स्वतंत्र चरित्र उपस्थित करता है। जहाँ तक इसके नाम का सवाल है वह निश्चित रूप से शिल्प और कथ्य दोनों स्तर पर इसकी सार्थकता को स्पष्ट करता है। इस संदर्भ में जर्मन नाटककार एवं नाट्यालोचक बर्टोल्ट ब्रेख्ट का हवाला देना यहाँ प्रासंगिक होगा। उन्होंने अपने महाकाव्यात्मक नाटक (एपिक थियेटर) के शिल्प, मंच टेकनिक एवं उद्देश्य को स्पष्ट करने के लिए नुक्कड़ नाटक से मिलते–जुलते शब्द ''स्ट्रीट कार्नर थियेटर'' की चर्चा की है। उन्होंने दैनिक जन–जीवन में नुक्कड़ों, चौराहों पर घटित होने वाली घटना तथा भीड़ जुट जाने के बाद किसी के द्व ारा उस घटना के दोहराव (रिइनेक्टमेंट) को उन्होंने ''स्ट्रीट कार्नर थियेटर'' की संज्ञा दी है।[45]

नुक्कड़ नाटक का नाम शिल्प, कथ्य की दृष्टि से भी उचित ठहरता है। क्योंकि नुक्कड़ नाटक में मूल रूप से आम लोगों की जिन्दगी की तस्वीर मिलती है, जो चौराहों, नुक्कड़ों पर आसानी से देखे जा सकते हैं। आम जन–जीवन तथा यथार्थ से जुड़े होने

के कारण नुक्कड़ नाटक मूल रूप से नं दुखांत, न सुखान्त बल्कि समस्या प्रधान नाटक है, जिसकी यह आवश्यक शर्त है कि वह दर्शकों को सोचने के लिए बाध्य करें।[46]

परम्परागत रंगमंच से नाट्य–कला को नई दिशाओं में विकसित करने की कोशिशों में ये दोनों रवैये साफ झलकते हैं। सत्तर के दशक में जो नये प्रयास हुए, उस पर पोलैण्ड के रंगकर्मी ग्रोटोव्स्की के विचारों को साफ प्रभाव था। ग्रोटोव्स्की ने अपने यहाँ रंगमंच को ताम–झाम से बोझिल होते देखकर ''दरिद्र थियेटर'' का आन्दोलन चलाया था। इसमें परम्परागत रंगमंच को उन सारी चीज़ों से मुक्त करने की बात थी, जिन्हें अपने विकास के दौरान रंगकर्म ने अन्य कला–रूपों से ग्रहण करके खुद को समृद्ध किया है। नतीजे के तौर पर ऐसे सभी तत्व धीरे–धीरे तराश कर छाँटे जाने लगे। पोलैण्ड में इसका जो भी नतीजा सामने आया हो, हमारे यहाँ ''मनोशारीरिक'' के नाम के एक ऐसा नाट्य–रूप सामने आया जिसमें केवल अंग–संचालन और ध्वनियों का ही इस्तेमाल था। प्रकाश का प्रयोग न के बराबर था। जाहिर है, यह रूपवादी आन्दोलन न चल सकता था, न चला।[47]

उधर बंगाल में बादल सरकार ने ग्रोटोव्स्की के ''दरिद्र थियेटर'' के साथ अमेरीकी ''स्ट्रीट प्ले'' ''हैपनिंग'' और ''ब्रेख्ट के स्ट्रीट कॉर्नर सीन'' को मिलाकर नए नाटक की शुरुआत की। ग्रोटोव्स्की ने अगर ''समृद्ध थियेटर'' के मुकाबले ''दरिद्र थियेटर'' की बात की थी, तो बादल सरकार ने इसे ''समृद्ध जनों के थियेटर'' के मुकाबले ''गरीब लोगों द्वारा या गरीब लोगों के लिए'' किए जाने वाले रंगकर्म के रूप में सामने रखा। ब्रेख्ट ने ''स्ट्रीट कॉर्नर सीन'' को अपने ''एपिक थियेटर'' की इकाई बताया था – ''कि कैसे चौराहे पर खड़े लोग जब किसी वास्तविक घटना के बारे में दूसरों को बताते समय उसे ''करके दिखाते'' हैं तो सहज ही नाट्य तत्वों का सहारा लेते हैं और इसी सहजता को ''एपिक थिएटर'' के विभिन्न दृश्य रचने के लिए इस्तेमाल किया जा सकता है। लेकिन बादल सरकार के ''थर्ड थियेटर'' में इस सहजता का आभास नहीं मिलता।

भारत में नुक्कड़ नाटक परम्परागत नाट्य शैली की प्रतिस्पर्धा में

एक नए जननाट्य का प्रारंभ है, जो एक तरफ भारतीय लोककलाओं से प्रभावित है तो दूसरी तरफ सामाजिक–जनजागरण का माध्यम है। नुक्कड़ नाटक अपने कथ्य में हमें बहस का पूरा अवसर देता है। अतः इसमें आवश्यकतानुसार परिवर्तन की संभावना हमेशा बनी रहती है। नुक्कड़ नाटकों का बीज परम्परा से चली आ रही लोक नाट्य शैलियों में देखा जा सकता है एक तरह से यह एक पारंपरिक नाट्यरूपों का प्रयोग भी है। देश में दिनों–दिन होते परिवर्तन, मानवीय संबंधों में बदलाव तथा सामाजिक स्थितियों का नया रूप नाटक के कथ्य और मंच के लिए नए ढांचे के तलाश को प्रेरित करता रहा है।

सन्दर्भ

1. डॉ लक्ष्मीनारायण भारद्वाज, रंगमंच लोकधर्मी – नाट्यधर्मी, के.एल. पचौरी प्रकाश नगर गाज़ियाबाद 1992, प्र. 15।
2. शिवकुमार मधु, मध्यप्रदेश का लोक–नाट्य : माच, वागर्थ मार्च–अप्रैल, 2008, पृ. 140।
3. महात्मा गांधी अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा में कालू लाल कुलमी के लघु–शोध लोकरंग के विविध आयाम और ''गवरी'' की (2003–2005) भूमिका से, चौमासा, आदिवासी लोककला एवं तुलसी साहित्य अकादमी, भोपाल, पृ. 132।
4. लोक संपादक–पीयूष दईया, पृ. से 374, प्रकाशन–भारतीय लोक कला मण्डल, उदयपुर, पृ. 384।
5. वही, पृ. 384।
6. रंगमंच लोकधर्मी – नाट्यधर्मी, पृ. 14।
7. ''मडई'' 2003, स. डा. कालीचरण यादव, पृ. 218।
8. वही पृ. 218।
9. विजय पंडित, रंगमंच और स्वाधीनता आन्दोलन, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1998, पृ. 11।
10. वही, पृ. 12।
11. ई.एम.एम. नम्बूदरीपाद, कला साहित्य और संस्कृत, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली 2002, पृ. 105।
12. वही, पृ. 107।
13. सफ़दर, पृ. 42–47।
14. आल्नेर ज़ीस – कला के वैचारिक एवं सौंदर्यात्मक पहलू, पृ. 38.41।

15. रंगमंच और स्वाधीनता आन्दोलन, पृ. 13।
15-ए.लेखक स्वयं यह शब्द (हब्शियों/नीग्रो) प्रयोग करने के पक्ष में नहीं है। इनका विकल्प ब्लेक राइटर या ड्रामाटिस्ट है। पहले हब्शी या नीग्रो शब्द ही प्रयोग होता था। इसलिए वह प्रयोग में हुआ।
16. सफ़दर, पृ. 43।
17. रंगमंच और स्वाधीनता आन्दोलन, पृ. 1।
18. गुगी वा थाङ्ग–होमकमिंग, पृ. 55।
19. द कैम्ब्रिज गाइड टू वर्ल्ड थियेटर, पृ. 90।
20. डॉ. सुरेन्द्र अज्ञात–भारतीय रंगमंच का विवेचनात्मक इतिहास, पृ. 116।
21. देवेन्द्रराज अंकुर भारतीय नाट्य साहित्य में दलित चेतना, उत्तर प्रदेश (दलित साहित्य विशेषांक) सितम्बर–अक्टूबर 2002, पृ. 51।
22. मेरठ जनपद का परिगणित जातियों के लोक साहित्य का अध्ययन, पृ. 337, वही, पृ. 337।
23. मेरठ जनपद की दलित जाति में प्रचलित यह लोकनाट्य के रूप में सबसे छोटा है। यह विवाह के अवसर पर स्त्रियों के द्वारा अभिनीत किया जाता है। जिस दिन लड़के की बारात जाती है, उस दिन वर–पक्ष की औरतें ''चढ़त'' का लोकनाट्य करती है।
24. दलित जाति के लोग स्त्री–पुरुष का वेश बनाकर फटे–पुराने लहंगा तथा कमीज पहनकर और अपना रूप बिगाड़ कर मुंह काला–लाल करके कुछ त्योहारों के अवसर पर नाचकर या विभिन्न प्रकार की भंगिमाओं सहित अभिनय करते हैं।
25. लोग अपना रूप बदलकर अर्थात् सिर पर टोप लगाकर, गले में पिस्तौल का खाली कवर डाल, पैंट बुशर्ट पहनकर थानेदार का अभिनय करते हैं। ऐसा विवाह के अवसर पर ही होता है।
27. लोकनाट्य के चौबेला प्रधान युग में अभिनेयता की स्थिति को मूल पात्रनुकूल रखने का प्रयास किया जाता है। इन पात्रों में सपेरा, बाजीगर, बैरागी, फकीर, फकीरनी, आदि प्रमुख होते हैं। सांग या स्वांग ग्रामीण समाज में बहुत होते थे।
28. भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला में 25–26 सितम्बर 2008 को आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी में दिल्ली से आये दौलत सिंह के शोध–पत्र से।
29. आकाशवाणी, शिमला में कार्यक्रम अधिकारी के रूप में कार्यरत हरिसिंह पाल से बातचीत के आधार पर।
30. दिल्ली की सामाजिक कार्यकर्ता एवं नाटककार रजनी तिलक से बातचीत के आधार पर।

31. के. नाथ 'नीलम सुरइया' के टूटी हुई इबादत के सबूत बयान, हिन्दी मासिक सं. मोहनदास नैमिशराय, बी.जी. 5–ए/30 बी, पश्चिम विहार, नई दिल्ली 110063, 2007।
32. कानपुर के युवा दलित नाटककार एवं रंगकर्मी देव कुमार से उनके निवास पर बातचीत के आधार पर।
33. राजू नक्कारा नवाज, नौटंकी कलाकार, कानपुर।
34. बांदा (उत्तर प्रदेश) की बेड़नी जाति से नौटंकी कलाकार किरन देवी भारती के शोध–पत्र 'हम दलित कलाकारों की व्यथा' से पृ. 8।
35. भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला में 29 जुलाई 2008 को एसोसिएट के रूप में डॉ. अमर नाथ ठाकुर के द्वारा पढ़े गये शोध के आधार पर।
36. नित्यानंद गोकुल, राजा सलहेस की प्रेम कथा, आजकल, हिन्दी मासिक, प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली, मई 2001, पृ. 46।
37. वही, पृ. 47।
38. प्रसून लतांत, रंग लाता इंकलाब, जनसत्ता, 24 फरवरी, 2008।
39. भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला में 25–26 सितम्बर 2008 को आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी में जयपुर (राजस्थान) से आये रत्न कुमार सांभरिया के शोध–पत्र से।
40. डॉ. कैलाश प्रकाश, पृ. 18।
41. वही, पृ. 19।
42. वही, पृ. 21।
43. वही, पृ. 31।
44. वही, पृ. 27।
45. वही, पृ. 28।
46. वही, पृ. 29।
47. वही, पृ. 30।

हिन्दी दलित नाटक

दलित साहित्य की अवधारणा में नाटक या रंगमंच को देखें तो भारतीय समाज और विशेष रूप में हिन्दू समाज में जातियों के परस्पर टकराव झेलती जातियों की कश्मकश का वह आईना है। वहां पीड़ा है और मुक्ति की चाह भी। उसी चाह, आन्दोलन और उत्तेजना तथा आक्रोश के गर्भ से दलित रंगमंच का जन्म हुआ है। जो मराठी रंगमंच की तरह हिन्दी क्षेत्रों में भी तेजी के साथ विकसित हुआ। दलित नाटककारों तथा रंगकर्मियों ने अपनी अस्मिता तथा संस्कृति को पहचाना और हिन्दी हिन्दू रंगमंच के समानांतर अपनी उपस्थिति दर्ज करायी।

मैं आज इस अवसर पर यह बताना जरूरी समझता हूं कि जब हम दलित नाटक या रंगमंच की बात करते हैं तो हमारे सामने हमारी स्मृतियां खुलने लगती हैं। उत्पीड़न सहते हुए हमारे जातीय बंधु, सवर्ण पुरुषों के द्वारा बलात्कार झेलती और कभी–कभी बलात्कारियों को लाठी/गोली/खुरपी दराती या फिर बल्लम आदि से जवाब देती हमारी मां/बहन/बेटियां, फिर देवदासी के रूप में हिन्दू देवताओं के प्रतिनिधियों की हवस का शिकार धर्म भीरू महिलाएं, मंदिरों में अपनी अस्मत बचाने हेतु चीत्कार करती वैसे ही अंधविश्वास में डूबी महिलाएं, आग में जलती–भुनती दलित मां/बहिन तथा बेटियों की आकांक्षाएं।

हमारे लिए नाटक लिखना ब्यौरा देना नहीं, यह किताबी कला भी नहीं। किताब छप भी जाए तो उसके पृष्ठ–दर–पृष्ठ में उत्पीड़न के अक्श उभरते हैं। वीभत्स चित्रों और चीत्कारों की गूंज हमें बेचैन किये बिना नहीं रहती। इसलिए दलितों के लिए अपनी आत्मकथा

लिखने जैसा ही नाटक लिखने जैसा है। उसकी प्रस्तुति करना तो और भी मुश्किल होता है। इसलिए कि भोगे हुए यथार्थ को बताना होता है।

यह सवाल/समस्या या फिर वर्ण–व्यवस्था के तहत थोपी गई परम्परा/बेगारी/आतंक उन सभी की जीवन प्रक्रिया से जुड़ी है, जिनकी मां/बहन/बेटियों की इज्जत खेतों में/मंदिरों में/धर्मशालाओं में या फिर जमींदारों/पाटिलों/काश्तकारों के रंगमहलों में लुटती रही। यह सवाल उनके भीतर भी लाजमी तौर पर किसी ज्वालामुखी की तरह उभरता है जिनके परिवार/गोत्र या फिर जातीय बंधु/बहन के साथ यह सब हुआ हो। यह सवाल मेरे लिए लाजमी है, क्योंकि मेरा भी जन्म उसी मां की कोख से हुआ है जिसके माथे पर उसकी जाति लिख दी गई थी। मां के माथे पर जाति लिख दी गई तो बच्चा कैसे बचता। चाहे वही बच्चा बड़ा होने पर स्लम में रहे या राष्ट्रपति निवास में। जाति बिल्कुल परछाई की तरह से हैं जहां–जहां हमारी परछाई जाएगी वहीं–वहीं जाति भी चलती जाएगी। जो लोग जाति/या जातीय उत्पीड़न भेद–भाव भले ही किसी भी रूप में हो, खारिज करते हैं। या तो तोते की तरह अपनी आंखें मींच लेते हैं। मेरी राय में या तो वे मूर्ख हैं या फिर बहुत ही चतुर–चालाक।

इसी सवर्ण दर्शन या फिर उत्पीड़न की प्रतिक्रिया स्वरूप दलित साहित्य की एक सशक्त विधा के रूप में नाटक की उत्पत्ति हुई। पहले दलितों के भीतर आक्रोश उभरा फिर आन्दोलन और बाद में आन्दोलन के गर्भ से नाटक। स्वयं डॉ. अम्बेडकर ने कहा था, ''मेरे दस भाषणों से कहीं अधिक एक नाटक की प्रस्तुति लोगों पर असर डालती है।''

इस प्रकार विद्रोह उस रूप में सामने आता है जो जड़ हो गये जीवन–मूल्यों को, बदलने का आह्वान करते हुए मानवीय जीवन–मूल्यों की पहचान कराती है, अथवा बासी हो गये अतीत को उसके बासीपन का आभास कराती है।[1]

किसी ने कहा है कि हम पूर्ववर्ती लेखकों से इसलिए अलग हैं कि हम उनसे कहीं अधिक जानते हैं।[2] इससे बात और भी स्पष्ट हो

जाती है–''पूर्ववर्ती लेखकों से अधिक जानना, एक बात है, पूर्ववर्ती लेखकों के जानने को नकार देना, बिल्कुल दूसरी बात। यहां पूर्ववर्ती लेखकों से अधिक जानना परम्परा से कटना नहीं है, बल्कि स्वस्थ परम्परा को विकसित करना है। रूढ़ि के, परम्परा के विरुद्ध हमारा कोई विद्रोही हो सकता है तो यही कि हम अपने को उस परम्परा से आगे जोड़ दें।[3]

किसी ने लिखा है ''मेरे आसपास जो कुछ घटित होता है उसमें मैं अभिन्न रूप से जुड़ा हूं।'' जुड़ा हुआ हूं और पहचानता हूं कि जुड़ा हूं, यही मुझे अकेला करता है। इसी दोहरे अर्थ में कृतिकार सामाजिक भी होता है और अकेला भी। जो अपने परिवेश से जुड़े हुए नहीं हैं और उस सम्बन्ध को और उसकी दुखन को नहीं पहचानते उन्हें अकेला होने की जरूरत भी क्यों होनी चाहिए?[4]

मेरी राय में यह भी कि अकेला होकर भी रचनाकार सामाजिक होता है, पर उसके भीतर कुछ वैसा हो जो आन्दोलन की डोर से कुछ लोगों को बांधने की ताकत रखता हो। तब उसके भीतर बहुत कुछ होता है।

व्यक्ति जीवन का अर्थ इन्हीं दो जगहों पर खोजता है – एक अकेलेपन में, दूसरे सामाजिक होने में। व्यक्ति के भीतर 'व्यक्ति' और 'समाज' दोनों ही समान रूप से क्रिया–प्रतिक्रिया और विरोध में खड़ा पाता है तब उसका व्यक्ति पक्ष उसके अधिक निकट हो जाता है।

विद्रोह शब्द को समझाते हुए 'एन्साइक्लोपीडिआ ऑफ सोशल साइंसिज' लिखता है कि उससे प्राकृतिक विज्ञान से परे किसी ऐसे अक्समात् और उच्च परिवर्तन का बोध होता है, जिससे विकास की सतत गतिशीलता खंडित हो जाती है। इसकी मांग अक्सर विशेष दिशा की ओर इशारा करती है जैसे सांस्कृतिक है। इसकी मांग अक्सर विशेष दिशा की ओर इशारा करती है जैसे सांस्कृतिक अथवा औद्योगिक विद्रोह की अभिव्यक्ति। उन्नीसवीं सदी में राजनीतिशास्त्र के संदर्भ में आकर इसका अर्थ राजनीतिक विद्रोह का अर्थ देने लगा।[5]

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट होता है कि विद्रोह स्थित हो गये मूल्यों के प्रवाह को तोड़ता है तथा उसकी मांग सांस्कृतिक क्षेत्र में भी हो

सकती है और औद्योगिक क्रांति के रूप में भी। अर्थात् विद्रोह केवल राजनीतिक नहीं होता सांस्कृतिक भी होता है। उन्नीसवीं सदी, राजनीतिक प्रभाव से सर्वाधिक ग्रसित रही इसलिए विद्रोह की दिशा राजनीतिक तन्त्र के विरोध में ही देखी जाने लगी।[6]

नाटक का विद्रोह

जिसे हम 'नाट्य' कहते हैं – उसकी संरचना में तीन प्रमुख तत्व हैं। एक नाटककार, दूसरा दर्शक और तीसरा परिवेश जिसमें दर्शक और नाटककार दोनों रहते हैं अर्थात् नाटक की संरचना में नाटककार को दर्शक और परिवेश दोनों ही प्रभावित करते हैं।[7]

इस प्रकार एक नाटककार का विद्रोह तीन स्तरों पर होता है – एक स्तर पर वह परिवेश से विद्रोह करता है। दूसरे स्तर पर अपने दर्शक समूह से। और तीसरे पर अपने लेखक से, जिसको कि उसे दर्शक और परिवेश के द्वारा बहुत कुछ अनुशासित करना होता है।

नाटककार का अपने 'लेखक' से विद्रोह इस अर्थ में और भी अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है कि उसको अपने विद्रोह में 'नाटक' की रूढ़ियां तोड़कर एक मौलिक रंगमंच की परिकल्पना (संरचना) करनी पड़ती है।

एक-एक कर दो कल्पनाएं कीजिए

पहली, राज भवन की नाट्यशाला और सभ्य दर्शक समाज। यवनिका उठती है। सूत्रधार प्रवेश करता है, मांगलिक कामना करता है। दसों दिशाओं में झुकता है और फिर दर्शकों से कहता है कि वह आज क्या करने जा रहा है। वह दर्शकों से यह विश्वास करने के लिए कहता है कि यह यद्यपि वह एक खेल प्रस्तुत कर रहा है तथापि ऐसा राजा अथवा व्यक्ति, अमुक समय में हुआ था। वह मानवों में श्रेष्ठ मानव, देवों में श्रेष्ठ देव, साक्षात् ईश्वर अथवा उसका अवतार था और दर्शक पूरी अवस्था के साथ उसकी बात स्वीकार कर लेते हैं। सूत्रधार हटता है और राजा का वेश धारण किये एक 'नट' तथा रानी का वेश धारण किये एक 'नटी' मंच पर आकर शृंगारिक चेष्टाएँ

करते हैं। दर्शक समाज और अधिक श्रद्धा के साथ रस–मग्न (लीन) हो जाता है।[8]

दूसरी कल्पना में–साधारण नाट्य जिसका आधा भाग 'दर्शकों' से भरा है। वर्ण विभाजन मानदण्ड नहीं हैं इन्द्र ध्वज नहीं हैं सूत्रधार भी नहीं दिखाई देता। किसी देवी देवता की पूजा नहीं होती, केवल यवनिका उठती है और खाली मंच सामने होता है। दर्शकों की भीड़ में से एक पुरुष एक स्त्री उठते हैं और अपने आप को प्रस्तुत कर लौट आते हैं। वेश बदलकर फिर आते हैं, वस्त्र बदलकर भी आते हैं, परन्तु उनके भीतर की हलचल नहीं बदलती। दर्शक हर बार तालियाँ बजाकर उनका स्वागत करता है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि यह पहला नाट्य परम्परा का नाटक है और दूसरा विद्रोह का।[9] हिन्दी का सवर्ण नाटककार अपने विद्रोह का आरंभ पश्चिम के नाटक की तरह ईश्वर की मृत्यु से नहीं करता।[10] इसलिए कि वह स्वयं परम्पराओं के बोझ से दबा होता है। रूढ़ियों और प्रथाओं को ओढ़ता–बिछाता है। नाटक के उसके विषय अपने नहीं होते, न ही वे आन्दोलन के गर्भ से उपजते हैं, वे तो लक्ष्मण रेखा जैसे होते हैं। एक रेखा खींच दी गई, दलितों और महिलाओं के लिए, तुम्हें इसके बाहर नहीं जाना है।

बकौल ओमप्रकाश वाल्मीकि दलित साहित्य पौराणिक आख्यानों का ही नहीं पूर्व रचनाकारों की रचनाओं के बारे में पुनः मूल्यांकन के सवाल उठा रहा है तो इसे अनेक लोग नकारात्मक मान रहे हैं। दलित साहित्य अतीत में होने वाले तमाम क्रिया–कलापों के प्रति आलोचनात्मक विचार तर्क को महत्ता देता है, बिना किसी पूर्वग्रह के जहाँ दलित साहित्य में अतीत मोह नहीं उसके प्रति निर्ममता है, वहाँ वर्तमान और भविष्य को बेहतर बनाने की जद्दोजहद भी है।

सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के नाम पर जो भी स्थापित किया जा रहा है, उसमें कहीं भी जातिवाद, वर्णवाद, साम्प्रदायिकता से लड़ने, भुखमरी, गरीबी से निजात पाने की कोई भी कोशिश दिखाई नहीं देती है। वर्ण–व्यवस्था को विश्व की सर्वश्रेठ व्यवस्था कहने वालों की कमी नहीं है। वे इस ऐतिहासिक लक्ष्य को जानबूझकर अनदेखा करते हैं कि इस व्यवस्था ने शूद्रों और दलितों का हजारों साल से

पीढ़ी–दर–पीढ़ी विकास अवरुद्ध किया है, और इससे समूचे राष्ट्र की हानि हुई है। ऐसा सोचने वालों के लिए राष्ट्रवाद एक धोखा है। इनके लिए राष्ट्र विकास से ज्यादा महत्वपूर्ण जातीय श्रेष्ठता है।

वेदों के प्रति या अन्य धार्मिक पवित्र ग्रंथों के प्रति जो सम्मान भाव ब्राह्मणवादी लेखक या उच्च जाति में जन्में किसी मार्क्सवादी लेखक का हो सकता है, वह मेरा नहीं हो सकता है, क्योंकि जिसे पवित्र साहित्य कहा जा रहा है वहां मेरे जैसे एक दलित के लिए – जिसमें पहले से ही वैमनस्य भाव मौजूद है, जुगुप्सा भरा सामाजिक दर्शन है, जिससे एक दलित के मन में हीनता बोध पैदा करने के तमाम तत्व मौजूद हैं – के मन में सम्मान भाव या आस्था भाव कैसे पैदा कर पायेगा?

वर्ण व्यवस्था को स्वेच्छा से स्वीकार नहीं किया गया था। बल्कि ज़ोर–जबरदस्ती और सत्ता के बल पर इसे लादा गया था। ये तथ्य इतिहास में मौजूद हैं। इस वर्ण व्यवस्था के कारण ही भारतीय समाज भिन्न–भिन्न खण्डों में बंटा हुआ है। जिनमें सामूहिक चेतना जैसी कोई चीज़ नहीं है जो है, वह समाज चेतना नहीं, जाति चेतना है। इसीलिए 'जाति–चेतना' समाज विरोधी है और परिणाम भी सुखद नहीं है। इसी के कारण भारत हजारों साल गुलाम रहा।

डॉ. अम्बेडकर के संदर्भ से कहूं तो ''हिन्दू समाज में मानवीय संबंधों को धर्म का आवरण ओढ़ाकर अनुलंघनीय बना दिया गया है। कामगारों के पारस्परिक संबंधों की सीमाएं बांध दी गई हैं उन्हें कड़ियों और संशयहीनता के शिकंजे में कस दिया गया।''

साहित्य ने इन स्थितियों को अनदेखा किया। इसीलिए ऐसा साहित्य एक दलित के लिए अप्रासंगिक होता गया है। जिसमें सामाजिक संघर्षों के द्वन्द्व की ठीक–ठीक अभिव्यक्ति दिखायी नहीं पड़ती है। सात्र ने कहा है – ''प्रकृति के एक सुन्दर और विस्तृत परिदृश्य में जैसे आप एक मनुष्य को स्थापित करते हैं, तो सारा कुछ जीवंत हो उठता है।

लेकिन यथास्थितिवादी रचनाकार या आलोचक, जो सिर्फ अतीत में जीता है, नये संदर्भ, नयी स्थितियां, नये बदलाव जो उसे समकालीनता से जोड़ते हैं, उसके लिए कोई मायने नहीं रखते हैं, सामाजिक

बदलाव और उससे उपजी तमाम स्थितियां उसे अमान्य हैं जबकि दलितों के लिए अतीत की स्मृतियां ही दुखदायी नहीं हैं। सामूहिक यातनाओं और पीड़ा जन्य स्मृतियों के गहरे दंश भी उनके भीतर हैं। जो दलित रचनाकारों की कहानियों, कविताओं तथा आलोचनाओं में 'संघर्ष–कथा' के रूप में आ रहे हैं, जो उनमें आक्रोश, प्रतिशोध पैदा करते हैं, जिसे आलोचक जातिवादी साहित्य–दृष्टि से अपरिपक्व कहता है और इसके विपरीत सहानुभूति पूर्ण, यथास्थितिवादी, उसके खिलाफ खड़ी गैर दलितों की अभिव्यक्ति के रूप में दिखाई पड़ता है, जिसे आलोचक हाथों–हाथ लेकर खूब हो–हल्ला मचाते हैं। ऐसा पिछले दिनों कई कहानियों को लेकर हुआ।

जब हम दलित नाटक की बात करते हैं तो इन कृतियों में भी लगभग वैसा ही विचार उभर कर आता है।

वरिष्ठ कथाकार रमणिका गुप्ता[11] का मानना है कि रामायण–महाभारत के उपेक्षित पात्रों के जीवन को लेकर रचे गए नाटक लिखे गये तथा उनका मंचन भी हुआ। ऐसे नाटक इन ग्रंथों की सवर्ण मानसिकता और स्वयं को गौरवान्वित करने के दंभी प्रयास को तोड़ एवं नकार कर उन उपेक्षित पात्रों के गुणों तथा शौर्य को दर्शाते हैं और नए मिथक गढ़ते हैं। साथ ही पुराने मिथकों को तोड़कर उन्हें अपनी दृष्टि से व्याख्यायित और परिभाषित करते हैं। इस कड़ी में सबसे पहले 20वीं सदी में 'आदि हिन्दू आन्दोलन' के प्रणेता स्वामी अछूतानन्द 'हरिहर' जी के चार नाटक दृष्टिगोचर होते हैं, जिनमें से दो प्रकाशित नहीं हो पाए। उनका पहला नाटक 'रामराज्य न्याय' में रामायण के उपेक्षित और राम के जुल्म के शिकार पात्र शंबूक की हत्या का वर्णन है। लोग हजारों की संख्या में इकट्ठे होकर इस नाटक को देखा करते थे। उनके नाटक 'शंबूक', 'मायानन्द बलिदान', 'पारख–पद', 'बली छलन', हिन्दू शास्त्रों और वाङ्मय के ऐसे पात्रों पर रचे गए हैं, जिनके उत्पीड़न को सवर्ण साहित्यकारों और समाज ने त्याग या बलिदान की संज्ञा देकर सवर्णों द्वारा दलितों के शोषण तथा सवर्ण पात्रों के छल को महिमामंडित करने का षडयंत्र रचा था। स्वामी जी ने 'बली छलन' और 'शंबूक' में उन परिस्थितियों के साथ देव पुरुषों को चित्रित किया है।

उन्होंने अपने नाटकों में ऐसे तर्कसंगत, मर्म को छूने वाले संवाद गद्य और पद्य शैली में रचे हैं कि दर्शक को राम के प्रति अपनी मानसिकता बदलने को प्रेरित करता है और बाली व शंबूक जुल्म के शिकार का प्रतीक ही नहीं बल्कि राम के वर्चस्ववाद के विरोध में खड़े विद्रोही पात्र बनकर उभरते हैं। इन नाटकों की भाषा सरल है, जो आम आदमी और ग्रामीण जनता, खासकर दलित वर्ग के अनुकूल हैं।[12] बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर के निकटतम सहयोगी सोहन लाल शास्त्री लिखते हैं कि आज़ादी मिलने के बाद हिन्दी राज्यों में ही नहीं संपूर्ण देश के दलितों में नये तरह का विश्वास आया। उत्पीड़न का शिकार हुए लोगों में दलित अस्मिता और साहित्य के आन्दोलन में शामिल होने से जुड़ने की ललक की संघर्षपूर्ण धारा बढ़ी। आज़ादी मिलते–मिलते देखा जाए तो लोकतंत्र के खिलाफ सामंती और परम्परागत ताकतें एकजुट हो पुनः सिर उठाने लगी थी। स्वयं हिन्दू कोड बिल टुकड़ों में स्वीकृत होना इसका सटीक उदाहरण रहा है। चूंकि बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर संवैधानिक स्तर पर प्रमुख रूप से इससे जुड़े थे, अतः उन्हें भी समय–समय पर कारपात्री तथा शंकराचार्यों के द्वारा चुनौती दी गई। बकौल सोहनलाल शास्त्री[13] हिन्दू कोड बिल के कारण सारे भारत में हंगामा–सा उठ खड़ा हुआ था। जो दलितों की भावनाओं पर सीधे आघात था। लेकिन क्या गैर दलितों (जिनमें महिलाएं भी शामिल हैं) ने यह आघात महसूस किया? ऐसे संस्कृतिकर्मियों, रंगकर्मियों के विषय कुछ और थे। बकौल के. एन. पणिक्कर भारत में संस्कृतिकर्मियों का जो समुदाय है, उसमें एक अच्छा–खासा हिस्सा, अपनी प्रतिबद्धताओं और अपनी दृष्टि के लिहाज से, या तो वामपंथ से जुड़ा हुआ है या उसके साथ हमदर्दी रखता है। इसके बावजूद, यह विरोधाभासी स्थिति है कि सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्यों और व्यवहार को लेकर अनेक सवाल उठते हैं।

इन सवालों में जाति का मुद्दा अहम रहा है। जिसे वामपंथी नकारते रहे। राष्ट्रीय जन–संस्कृति के बारे में लिखते हुए ई.एम.एस नंबूदरिपाद ने 1955 में ही, उच्च वर्ग से आने वाले कलाकारों तथा बुद्धिजीवियों और मजदूरों किसानों से सम्बन्धित कलाकारों व लेखकों को एकजुट करने की जरूरत को रेखांकित किया था। उनका

कहना था कि इससे सही मायने में एक राष्ट्रीय संस्कृति पैदा होगी, एक ऐसी संस्कृति जिसमें प्रशिक्षित बुद्धिजीवियों का मानवतावाद तथा प्रगतिशील दृष्टिकोण, आम मजदूरों–किसानों की अब तक अविकसित प्रतिभाओं के साथ एकजुट होगा, उनके मानवतावाद में दलित सवाल गौण थे।[14]

हिन्दू कोड बिल स्त्रियों को मिलने वाले सम्मान की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण संवैधानिक अध्याय रहा है। यह स्त्री और पुरुषों के अधिकारों में समानता लाने का ऐतिहासिक प्रयास था। जन–सामान्य के बीच इस बारे में रूचि के साथ उत्तेजना के भी मिले–जुले भाव थे। कहना नहीं होगा कि उस दौरान देशभर में विशेषरूप से महाराष्ट्र और उत्तर प्रदेश में एकांकी, लघु नाटक और नुक्कड़ नाटकों की बाढ़–सी आ गई थी।

हिन्दी क्षेत्रों में शोभा यात्रा नाटकों का भी अपना महत्व रहा है। विशेष तौर पर उत्तरी भारत में संत रविदास जन्म दिवस तथा डॉ. अम्बेडकर जयंती समारोह के अवसरों पर दलित बहुल बस्तियों में तथा नजदीकी स्थानों पर नाटकों के आयोजन की शुरूआत हुई। ऐसी प्रस्तुतियां दलित–नायकों के जीवन संघर्ष की जानकारी देते हुए उनके भीतर चेतना जगाने का कार्य करती रहीं। इन शोभा यात्रा नाटकों में किसी विशेष तकनीक की जरूरत नहीं पड़ती थी। मिलजुल कर संवाद लिखने से प्रस्तुति होने तक साथियों के बीच बिना किसी शिष्टाचार के कार्य होता है।[15]

इतिहास में एकलव्य का प्रसंग इसलिए महत्वपूर्ण है कि यह ऐतिहासिक दुर्घटना तत्कालीन भारतीय समाज को दो हिस्सों में बांटती है। एक हिस्सा आर्यों का था और दूसरा द्रविड़ों का। एक विजयी और दूसरा पराजयी। दोनों की संस्कृति एकलव्य जैसे धनुष विधा में प्रवीण पात्र के आसपास घूमती है। इसी पात्र को लेकर दलित समाज के लेखक तथा साहित्यकारों ने कुछ नाटक लिखे हैं, जो अच्छे खासे चर्चित हुए हैं जबकि मेरठ के कांति प्रसाद का कहना है कि उस समय वे जन जागरण और मनोरंजन के लिए थियेटर करते थे।

70 का दशक दलित थियेटर के लिए एक तरह से महत्वपूर्ण और

प्रेरक ही कहा जा सकता है, क्योंकि इसी दशक में दलित पेंथर नाम से जुझारू संगठन महाराष्ट्र में बना, जो आन्ध्र प्रदेश, कर्नाटक के साथ उत्तर प्रदेश में भी तेजी के साथ अस्तित्व में आया। अम्बेडकर का क्रांतिकारी दर्शन जुझारू दलित युवकों के नाटकों के माध्यम से जन–जन तक पहुंचा। इसी दशक में नक्सलवादी आन्दोलन एक ज्वालामुखी की तरह फूट पड़ा। इमरजेंसी की घोषणा भी इसी दशक में हुई, फिर दूसरी आजादी के सपने की रिहर्सल भी, जिसे बेलछी जैसी दलित उत्पीड़न की वीभत्स घटना ने तोड़ा। बाद के दशक में तो दलित उत्पीड़न की घटनाएं और भी बढ़ीं। परिणामस्वरूप दलितों के भीतर आक्रोश उभरा और उन्होंने साहित्य की विभिन्न विधाओं में लिखना आरंभ किया।

अगले दशक यानी फरवरी 1981 में मीनाक्षीपुरम (तमिलनाडु) में धर्म परिवर्तन की बड़ी घटना हुई। जिसने दलितों की अस्मिता को झिझोड़ने का कार्य किया। मराठी दलित कथाकार रामनाथ चव्हाण[16] के विचार में मीनाक्षीपुरम के दलितों ने धर्म परिवर्तन का जो निर्णय लिया, वही मेरे लिए केन्द्रीय चिंता का विषय रहा है। वहां उन दिनों जो कुछ हुआ उसे नाट्य रूप में प्रस्तुत करना मेरे सामने एकमात्र उद्देश्य रहा है, क्योंकि मेरे लिए मीनाक्षीपुरम की घटनामात्र समसामयिक महत्व की न होकर दलितों के अस्तित्व और अस्मिता को उजागर करने वाली घटना है। धर्म परिवर्तन के कारणों की खोज इसी उद्देश्य को सामने रखकर मैंने यह नाटक लिखा है।

बकौल बाबूराम बागुल शोषणकारी–सत्ता ने सदैव अपने अनुकूल प्रथाओं, व्यवस्थाओं और व्याख्याओं को जीवंत बनाएं रखने की चेष्टा की है तथा उसने प्रतिकूल पड़ने वाली प्रथाओं आदि को नष्ट किया है। इसलिए ''दलित साहित्य'' हिन्दू पौराणिकता, वैचारिकता, संस्कार, आदर्शों, प्रतीकों ओर उनकी प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष परिणतियों को नकारता है और व्यापक स्तर पर हर तरह के शोषण का विरोध करता है। लगभग ऐसा ही दलित थियेटर में भी हुआ है। इसलिए नाट्यकर्मी क्षुब्ध भी हुए हैं।

देखा जाए तो आजादी के बाद नाटकों की दुनिया में भी काफी परिवर्तन हुए। थिएटर के विषय में ही नहीं, दृश्य तथा दृष्टिकोण

ही बदल गये। भीष्म साहनी कहते हैं कि ''हम आजादी के बाद बंबई गये, उन दिनों थिएटर बड़ा सक्रिय बना। साथ ही 'इप्टा' की जो गतिविधियां थीं, वे समाजोन्मुख थीं, सामाजिक एवं आर्थिक विसंगतियों को मार्क्सवादी दृष्टि से देखने की कोशिश करते हुए उन्हें मंच पर लाया जाने लगा।

लेकिन बाद की परिस्थितियों ने रंगकर्मियों की मानसिकता में भी परिवर्तन किया। उन्होंने थियेटर में रंग भरने शुरू कर दिये। परिणामस्वरूप हिन्दी नाटक यथार्थ से दूर होते गये। नाटकों के प्रयोग के रूप में भी शुरूआत हुई। विदेशी नाटकों की हिन्दी में प्रचुरता बढ़ी। आम आदमी से हटकर कला खास लोगों की बपौती बन गई।

डॉ. जशवंत भाई डी. पंडया लिखते हैं कि हिन्दी साहित्य में प्रायः सभी विधाओं में व्यक्तिचेतना, नारी चेतना, सामाजिक चेतना, राष्ट्रीय चेतना एवं वैश्विक चेतना पर विशेष साहित्य सर्जन हुआ है। स्वतंत्रता पश्चात् हिन्दी साहित्य की उपन्यास विधा में, कहानी विधा में, काव्य में दलित चेतना पर साहित्यकारों ने काफी लिखा है। हिन्दी साहित्य की अन्य विधा की तुलना में दलित चेतना पर भी कम लिखा गया है। लेकिन पिछले बीस–तीस सालों से हिन्दी नाटकों में दलित चेतना पर भी लिखा जाता रहा है यह खुशी का विषय है। दलित एवं गैर दलित नाट्य लेखकों ने दलित चेतना पर नाटक लिखे हैं। गौतम बुद्ध, स्वामी विवेकानंद, संत कबीर, संत रैदास, डॉ. भीमराव अम्बेडकर, महात्मा गांधी, डॉ. राम मनोहर लोहिया, जयप्रकाश नारायण, सावित्री बाई फुले, महात्मा ज्योतिराव फुले आदि समाज सुधारकों के विचार एवं प्रेरक प्रसंगों पर आधारित और दलितों की समस्याओं पर आधारित हिन्दी में नाटक लिखे गये हैं।

भारतेन्दु युग से लेकर आज तक वर्णव्यवस्था से प्रभावित दलितों की दशा एवं दिशा पर चित्रण किया गया है। विशेषतः स्वातंत्रयोत्तर कालीन हिन्दी नाटकों में दलितों की विविध समस्याओं को ध्यान में रखकर समाधान बताते हुए सुदर्शन, उदयशंकर भट्ट, बद्रीनाथ भट्ट, लक्ष्मीनारायण मिश्र, लक्ष्मीनारायण लाल, डॉ. शंकर शेष, डॉ. कुसुम कुमार, विभुकुमार, माता प्रसाद, एम.आर. सागर, ओमप्रकाश वाल्मीकि, मोहनदास नैमिशराय एवं कर्मशील भारती आदि ने दलित

चेतना पर लिखे हैं। इन सभी नाटककारों ने दलितों के जीवन के प्रायः अधिकाधिक समस्याओं को, बिन्दुओं को स्पर्श किया है। वैयक्तिक जीवन, सामाजिक जीवन में दलित समाज अकल्पनीय विविध समस्याओं से, कष्टों से टकराता रहा है, संघर्ष करता रहा है।

दिल्ली के रंगमंच और नाट्य संसार में एक अनपेक्षित परिवर्तन 1958 में आया जब दिल्ली में ''नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा'' की स्थापना हुई। भारत में यह अपने ढंग की पहली और एकमात्र संस्था थी, जो अभिनय, निर्देशन, प्रकाश–योजना, मंच सज्जा आदि की शिक्षा देने हेतु स्थापित हुई थी। इससे जुड़कर कुछ नाटककारों को प्रेरणा मिली। बकौल नाटककार वीरेन्द्र वर्मा[17] आदमी–आदमी के बीच सदियों से चली आ रही जिस दीवार को ढहाने हेतु बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर जीवन पर्यन्त संघर्ष करते रहे, उसी शृंखला में प्रसिद्ध रंगकर्मी रमेश मेहता ने साठ के दशक में एक मौलिक सामाजिक नाटक ''रोटी और बेटी'' कलमबद्ध किया। इस नाटक के माध्यम से उन्होंने जातीय आधार पर लोगों को उद्वेलित और उत्तेजित करती आ रही ज्वलंत समस्या को बड़े ही मार्मिक ढंग से उठाया। ''रोटी और बेटी'' नाटक दलित परिवार की व्यथा है। यूं नाटक सुखांत है, लेकिन बीच–बीच मे जातीय द्वेष झेलते दलित पात्रों के संवाद से पाठकों/दर्शको को रू–ब–रू भी कराया जाता है।

इस नाटक का मंचन 'थ्री आर्ट्स क्लब', नई दिल्ली द्वारा 9, 10 और 11 अप्रैल 1960 को सप्रू हाऊस में हुआ। इसके निर्देशक थे हेमचन्द गुप्ता। बाद में इसका मंचन 'राही कला संगम ग्रुप' द्वारा 14 अप्रैल 1990 में अम्बेडकर भवन, नई दिल्ली में हुआ। इस बार इसके निर्देशक सुरेन्द्र गौतम थे जो स्वयं दलित समाज से थे। 60 से 90 के दशकों के बीच इसी नाटक की अच्छी खासी चर्चा हुई। दिनेश अहलावत की भी इसी नाटक में महत्त्वपूर्ण भूमिका रही।

दलित रंगमंच की आवश्यकता को महसूस करके मनोहर लाल मानव ने 1975 वामपंथी विचारधारा का नाट्य ग्रुप ज्वाइन किया, जिसका नाम था 'जागृति सांस्कृतिक मंच' इस मंच से सामाजिक मूल्यों को लेकर स्टेज प्रस्तुतियां हुई। एक नाटक टाउन हाल,

दिल्ली के ऑडिटोरियम में 'बाप बड़ा न भइया सबसे बड़ा रुपया' हुआ। तत्पश्चात् मनोहर लाल मानव ने एम. के. रैना के निर्देशित नाटक 'बकरी और महाभोज' नाटकों में काम किया।[18]

इस तरह विभिन्न निर्देशकों के साथ काम करते हुए उन्होंने अनुभव किया कि दलित समाज में अब उन्हें नाटक प्रयोग की जरूरत है। उन्होंने 1977 में एक नुक्कड़ में नाटक लिखा जिसका नाम था 'चावली'। इस नाटक की थीम यह थी दलित समाज के पढ़े–लिखे तबके में मध्य वर्गीय मूल्यों के प्रति रूझान और समाज को झकझोर कर उन्हें शिक्षित समाज के साथ आगे बढ़ने के लिए प्रेरणा देना। इसके निर्देशक थे आनन्द कुमार। इस नाटक के अनेक शो हुए सार्वजनिक सभाओं में और दलित बहुल बस्तियों में।

उसके बाद 'जीजाबाई' स्टेज शो हुआ इसके निर्देशक श्याम पेन्डारकर थे।

1980 में मनोहर लाल मानव और डालचंद के संयुक्त प्रयास से एम.के. रैना के द्वारा 'कबिरा खड़ा बाजार में' विशेष रूप से दलित दर्शकों के लिए कराया गया। उसी दौरान मुनीरका गाँव में भी कुछ नाटक हो रहे थे।

1983 के दौरान खिचड़ीपुर दिल्ली में आनन्द स्वरूप द्वारा लिखित नाटिकाओं के मंचन बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर जयन्ती के अवसर पर बुद्ध विहार में हो रहे थे।[19]

दिल्ली में एक नाट्य मंच की कल्पना को साकार रूप दिया गया। बामसेफ के कार्यकर्त्ता वीर सिंह बहोत ने अंधविश्वास निवारण के लिये कुछ नाटक किये। विशेष रूप में इनका मंचन दलित बस्तियों में किया गया।

जहां तक दलित समाज के शौकिया नाटककारों की बात है। उत्तर प्रदेश के ही नाटककारों ने कई प्रस्तुतियां की। एकलव्य के जीवन पर वर्तमान के संदर्भ में इसी तरह का एक नाटक गांव गाजीपुर (बुलन्दशहर) के भीमसैन संतोष जी द्वारा लिखा गया, जो दिल्ली के शोषित साहित्य प्रकाशन के द्वारा जनवरी 1983 में प्रकाशित हुआ। इस नाटक का नाम 'शोषितों के नाम संतोष का पैगाम' है।[20]

इस नाटक के माध्यम से संतोष जी ने सीधी और सरल भाषा में दलितों के भीतर की कसक को बाहर लाने का प्रयास किया। उन्होंने अपने संवादों के द्वारा ब्राह्मणी मानसिकता पर चोट की।

इसके पूर्व उनका एक और नाटक ''कर्मयोगी'' 1982 में छपा। जिसे भारतीय अम्बेडकर सेवा दल, नई दिल्ली ने प्रकाशित किया। बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर के जीवन संघर्ष को लेकर इसकी बुनावट की गई है। इसमें सभी ऐतिहासिक पात्र हैं। बीच–बीच में कविताएं भी दी गई हैं जिनसे नाटक में रोचकता आई है।[21]

1995 में सेन्टर फॉर आल्टरनेटिव दलित मीडिया ने समय–समय पर दलित बस्तियों में बच्चों के साथ नाटक लिखने और उनके मंचन करने शुरू किये। जैसे 'दे दो आवाज़' नाटक दलित बच्चों को शिक्षा देने पर आधारित था। 'कदम बालमंच' में बच्चों के साथ अनिता भारती ने 2005 में नाट्य कोशल हेतु कार्य शालाएं शुरू की।

2002 में महाड संघर्ष पर अनेक शो हुए, 2002 में ही बड़ा शो कालका में नेकडोर संस्था के राज्य स्तरीय सम्मेलन में किया गया। 2003 में हैदराबाद में भारत सोशल फोरम में दलित महिलाओं पर बढ़ते अत्याचारों पर नाटक किया गयां इसमें दलित महिलाओं की भागीदारी रही।

2005 में 'सुजाता' और स्वास्तिक के माध्यम से बुद्ध जयन्ती कालका जी के चितरंजन पार्क में नाटक किया गया। जिसमें बुद्ध की करुणा बच्चों के प्रति दिखाई गई थी। 2006 में 'बुद्ध ने घर क्यों छोड़ा' इस नाटक का मंचन हुआ। इस नाटक के माध्यम से पानी के विवाद पर शाक्यों और कोलियों के बीच हुए संघर्ष को भी उजागर किया गया।

राजस्थान की पृष्ठभूमि के युवा दलित लेखक रत्नकुमार सांभरिया द्वारा 'समाज की नाक' नाम से लिखित एकांकी का विवरण मिलता है। यह एकांकी 1988 में जयपुर की डॉ. अम्बेडकर साहित्य अकादमी से प्रकाशित हुआ था। इसमें दलित जीवन और उनकी समस्याओं को बखूबी उकेरा गया है। कुल मिलाकर इसमें नौ एकांकी हैं, जिसमें छठी की रात, इक्कीसवीं सदी के प्रेमी, मां पर आतंक, सुबह का भूला, समाज की नाक और एक म्यान दो तलवार आदि विशेष हैं।[22]

इन सभी में सीधे–सपाट संवाद हैं, जो यथार्थ को उभारने में और भी सहायक बनते हैं। कहीं–कहीं सामाजिक विषमता के साथ शोषण के भी चित्र उभरते हैं। जो हिन्दू समाज में फैली अमानवीयता को दर्शाते हैं।

राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर के निदेशक डॉ. राघव प्रकाश का मानना है कि 'रत्नकुमार सांभरिया की नौ नाटिकाएं हमारे जीवन के आसपास सुलगती और चिलचिलाती समस्याओं को लेकर लिखी गई हैं। इनमें पारिवारिक, ऐतिहासिक, शैक्षणिक तथा सांस्कृतिक जीवन की झलकियां हैं, जो हमें स्वयं और अपने समाज पर विचार करने को विवश करती है। विषय की प्रामाणिकता होने के कारण ये नाटिकाएं हमें उत्तेजित करती हैं, हमारी संवेदनाओं को तराशती हैं। इसमें भाषा हमारी गलियों और मोहल्लों से बटोरी गई हैं, इसलिए उसमें सहजता और रवानगी है।

रत्नकुमार सांभरिया की साहित्यिक यात्रा के प्रथम चरण के दौरान की ये रचनाएं हैं, जो कहीं मार्मिक बनती हैं तो कहीं तीखी बनकर कचोटती है। राजस्थान से ही हमें मिश्रीलाल मीणा ''एकलव्य'' द्वारा लिखित कुछ एकांकी संग्रह तथा नाटकों के बारे में मालूम चलता है। उनके लिखे हुए नाटकों में ''उदयन'' मानवधर्म तथा प्रतिष्ठा नाम से एकांकी संग्रह है।

स्वयं लेखक के शब्दों में ''ठहरो'' में नाटक के नायक ''उदयन'' से पूछता हूं कि तुम्हारा प्रयोजन क्या है? क्यों उदयन! तुम्हें सरकार एक लाख रुपये का पुरस्कार दे रही है, पर तुम चांदनी, बादल और हिमालय खरीदना चाहते हो, क्यों.....? भीतर के पृष्ठों में यह संवाद भी है और लेखक के मन की बात भी।[22ए]

जैसा लेखक ने स्वयं कहा है कि 'उदयन' को मैंने अगस्त 1984 से दिसंबर 1984 के बीच लिखा। संक्षेप में कहा जा सकता है कि लेखक के इन नाटकों तथा एकांकियों में उसके दलित होने तथा अपनी अस्मिता और पहचान के बनाए रखने के प्रयास का अनुभव होता है।

जयपुर से ही ''बाल दहन'' नाम से प्रेम कुमार कुलदीप का एकांकी प्रकाशित हुआ। यह एकांकी बाबूलाल चांवरिया के संपादन

में 1990 में भारतीय दलित साहित्य अकादमी द्वारा छापा गया था। उक्त एकांकी समाज में बाल विवाह जैसी भयंकर कुरीति को लेकर लिखा गया है। जिसे रंगमंच पर अभिनीत कर लोगों को उसके दुष्परिणामों से अवगत कराया जा सकता है।

बिहार से बुद्ध शरणं हंस का 'बुद्धम शरणम गच्छामि' और 'चौराहे पर खड़ी मां' सामाजिक उद्देश्य को लेकर लिखे गये हैं।

समूचे देश में जब मंडल और आरक्षण के खिलाफ प्रतिक्रियात्मक आंधी चल रही थी तब दलित–पिछड़ों के बीच भी अपनी अस्मिता और अस्तित्व बचाने के लिए आन्दोलन फूट रहा था। एक तरफ बल और छल था तो दूसरी ओर उसका सामना करने की दलितों की संयुक्त मुहिम थी। ऐसे समय जहां आन्दोलन अन्य माध्यमों से मुखर हो रहा था, वहीं दिल्ली के कुछ युवा दलितों ने मिलजुल कर दलित नाट्य मंच की स्थापना की थी। इसमें दो नाम विशेष तौर पर लिये जा सकते हैं यानी कर्मशील भारती और धर्मवीर।

चूंकि उन दिनों दलित–उत्पीड़न की घटनाओं में खूब बढ़ोत्तरी हो रही थी हिन्दी क्षेत्र में तो हर राज्य में दलितों पर उत्पीड़न हो रहे थे, उत्पीड़क राज्यों में हरियाणा और राजस्थान सबसे आगे था। इसलिए नाटक मंच के माध्यम से नाट्य मंचन और प्रस्तुतियों को आगे बढ़ाने का कार्य किया गया। इस दिशा में कर्मशील भारतीय ने पहल की।

दलितों के मंदिर प्रवेश के सवाल पर कर्मशील भारती ने 10 अक्टूबर 1989 को विजयादशमी के दिन मुनीरका गांव में ''मेरा वजूद'' नाटक का मंचन किया। यह नाटक उन्होंने स्वयं लिखा था। दो दिन बाद यानी 12 अक्टूबर को इसकी दूसरी प्रस्तुति डॉ. अम्बेडकर भवन रानी झांसी रोड, नई दिल्ली में हुई। यह नाटक दलित नाट्य मंच के बैनर पर हुआ था और पूरी तरह से अव्यवसायिक था। इसकी अवधि चालीस मिनट थी।

इसके बाद उन्होंने दलित सवालों पर लगातार नाटक लिखे और उनका मंचन भी कराया। इस तरह दलित साहित्य में नाटक भी जुड़े।

कर्मशील भारती द्वारा लिखे तथा मंचन किये गये अन्य नाटकों का विवरण इस प्रकार है:—[23]

क्रम सं.	*नाटक का नाम*	*मंचन स्थान*	*दिनांक*
1.	मेरा वजूद	मुनीरका	10 अक्टूबर 1989
	मान सम्मान (दलित दूल्हे को घोड़ी से उतारने के बारे में)	मुनीरका	26 जनवरी 1990
2.	श्रेष्ठ कौन (बंधुआ मजदूरी पर)	दिल्ली में	1991
3.	फांसी (मेहराजा कांड पर)	मुनीरका, नई दिल्ली	24 अप्रैल 1992
4.	पहली प्रस्तुति आज़ादी किसकी (कुम्हेर काण्ड पर)	झरेडा गांव (दिल्ली छावनी)	14 अक्टूबर 1992
	दूसरी प्रस्तुति	अम्बेडकर भवन नई दिल्ली	10 नवम्बर, 1992
	तीसरी प्रस्तुति	नवनिर्माण संघ, बुद्ध विहार, आर. के. पुरम, नई दिल्ली	6 दिसंबर, 1992
5.	झूठा अहंकार (दलित महिला को निर्वस्त्र करने की प्रतिक्रिया स्वरूप	नव निर्माण संघ द्वारा मंचन किया गया)	30 जनवरी 1993

कर्मशील जी के नाटकों में दलित उत्पीड़न के साथ सामाजिक बुराई से मुकाबला करने और आत्मनिर्भरता की बात भी अच्छी तरह समझाई जाती रही है। स्वयं उनके अनुसार दूसरों पर आधारित होना दलित उत्पीड़न और अत्याचार की जड़ है।

यशवंत निकोसे 'थियेटरवाला' का कहना है कि आरंभ से ही थियेटर ऐसे लोगों के हाथों में रहा, जिनका पेट भरा हुआ था। इसलिए थियेटर का काम मनोरंजन करना रहा। थियेटर वालों को समाज की समस्याओं से कोई लेना–देना नहीं था। इसलिए थियेटर धर्म और पूजा पाठ की संस्कृति की गिरफ्त में ही फंसा रहा। कभी

वह उससे बाहर नहीं निकल सका। समाज की मूल समस्याएं अधिकांश थियेटर में अनदेखी रही। यशवंत निकोसे[24] मूलतः महाराष्ट्र की पृष्ठभूमि से और दलित समाज से हैं। उन्होंने नाट्य विद्यालय से एक्टिंग और डायरेक्शन का प्रशिक्षण लिया और फिर स्वतंत्र रूप में थियेटर में जमने का प्रयास करते रहे हैं। 1990 के आसपास उन्होंने नई दिल्ली में ''दलित थियेटर'' की स्थापना की। और कुछ नये तथा पुराने आर्टिस्टों को जोड़कर कुछ प्रस्तुतियां दीं। उनमें विशेष नाटक देवदासी, महामानव, बकरी तथा साता समुद्र पलिकरे (सात समंदर पार, मराठी नाटक) थे। उनकी प्रस्तुतियों में तीखे व्यंग्य उभरते हैं।

दिल्ली के ही दलित थियेटर की अगर बात की जाए तो आरम्भिक दौर में धन देवी तथा सुजाता सिंह का नाम आता है। धनदेवी मूलतः दिल्ली की रहने वाली थी। बकौल कर्मशील भारती समाज सेविका होने के नाते धनदेवी उन दिनों दलित बस्ती के ही बच्चों के बीच बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर की जीवनी के महत्वपूर्ण अंशों को नाटक के माध्यम से रोपने का कार्य करती थी। 90 के दशक में दलित नाटकों की श्रृंखला में अरुण गौतम का नाम भी जुड़ा। वे स्वयं एन.एस.डी में नौकरी करते थे। 90 के दशक में उनके द्वारा लिखा गया नाटक 'प्रवज्जा' काफी पोपुलर हुआ। दिल्ली, लखनऊ आदि में उसकी लगभग बीस प्रस्तुतियां हुईं। बाद में उन्होंने मायावती के जीवन को आधार बनाकर आयरन लेडी नाटक की प्रस्तुति भी की। दिल्ली में उन्होंने नुक्कड़ नाटक भी किये।

थियेटर के तकनीकी ज्ञान न होने के बावजूद भी धनदेवी के भीतर चूंकि दलित आन्दोलन का प्रवाह था इसलिए छोटी–छोटी प्रस्तुतियां बड़ा प्रभाव छोड़ती थी। जबकि सुजाता सिंह प्रसिद्ध मराठी दलित लेखिका कौशल्या बेसेंत्री की बेटी रही हैं। उन्हें थियेटर के साथ फिल्म की भी काफी समझ थी। फिल्म इंस्टीट्यूट, पुणे से उन्होंने फिल्म एप्रिएशन कोर्स भी किया था। दिल्ली में रहते हुए उन्होंने आह्वान थियेटर की स्थापना की और ब्लैक नाटक मुलेटो के साथ बकरी नाटक का मंचन किया। उन्होंने देवदासी समस्या पर भी नाटक की प्रस्तुतियां की। पर जल्दी ही दिल्ली छोड़कर वे बंबई चली गईं।

23 जुलाई 1984 को 'राही कला संगम' बैनर से नई दिल्ली के गांधी मेमोरियल हॉल, प्यारेलाल भवन (आई.टी.ओ) नई दिल्ली में स्वयं मोहनदास नैमिशराय द्वारा लिखित नाटक 'हैलो कॉमरेड' का मंचन हुआ।[25] उन्हीं का एक और नाटक 'डेढ़ इंच मुस्कान' 24 नवम्बर को मावलंकर हॉल में, फिर 5 फरवरी 1985 को प्यारे लाल भवन में 'क्या मुझे खरीदोगे' का मंचन हुआ। नाटक का सलेक्शन 'डेढ़ इंच मुस्कान' संस्कृति विभाग, नई दिल्ली के 'फुल लेंथ प्ले कम्पीटिशन' के तहत हुआ था। उस समय स्वयं लेखक कल्याण मंत्रालय (भारत सरकार) के अंतर्गत डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान में संपादक के रूप में कार्यरत थे।

निदेशक दिनेश अहलावत के अनुसार हैलो कॉमरेड वर्तमान में विषम सामाजिक परिवेश में सांस लेने वाले ऐसे लोगों की कहानी है जो राजनीतिक रंगमंच पर कहते कुछ हैं और करते कुछ हैं। जिनके दिल और दिमाग में अभी भी जाति–भेद भरा है। दलित समाज उनकी इसी विषमतावादी प्रवृत्ति का शिकार रहा है। यह नाटक अब प्रकाशित हो चुका है।

जहां तक वरिष्ठ दलित कथाकार ओमप्रकाश वाल्मीकि की बात है, उन्होंने सशक्त कहानियों के साथ अच्छे नाटक भी लिखे हैं। उनके द्वारा लिखे गए नाटक 'दो चेहरे' का मंचन कई नाट्य–संस्थाओं ने किया। देहरादून के अलावा फरीदाबाद में भी उनके नाटकों के मंचन हुए। इस नाटक के माध्यम से मजदूर संगठनों को दलित विरोधी गतिविधियों से उभारा गया। सही कहा जाए तो मजदूर नेताओं के चेहरों पर चढ़े चेहरों को उन्होंने उघाड़ा है। इसके अलावा उन्होंने नुक्कड़ नाटक 'ढोल की पोल' और 'खेल जमूरे का' आदि लिखे तथा उनके अनेक प्रदर्शन भी किये। वाल्मीकि जी ने कई एकांकी भी लिखे। बकौल रमणिका गुप्ता उनकी आत्मकथा 'जूठन' का कई संस्थाओं ने देश के अनेक स्थानों पर एकल नाटक प्रस्तुत किया है, जो अत्यन्त प्रभावकारी सिद्ध हुआ है।[26]

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय को भी नाटकों के मंचन के लिए प्रमुख स्थान माना जाता है। यूनाइटेड दलित स्टूडेंट्स फोरम के तत्वावधान में 2003 में वहीं 'महाड़ सत्याग्रह' नामक नाटक का मंचन

हुआ, जिसका निर्देशन दीनामणी भीम ने किया। उन्हीं के निर्देशन में दलित 'कविताओं का मंचन' नामक नाटक हुआ, जो वर्ण–व्यवस्था के खिलाफ व सम–सामयिक दलित समस्याओं को लेकर एक मर्मस्पर्शी प्रस्तुति थी। ये दोनों मंचन जे.एन.यू. में हुए। 2008 में ही दिल्ली में 18 दिसम्बर को श्रीराम सेंटर ऑडिटोरियम में अभिव्यक्ति नाट्य मंच की ओर से 'कह रैदास खलास चमारा' का मंचन हुआ और इसी वर्ष उन्हें मोहन राकेश पुरस्कार से नवाजा गया। राजेश कुमार के ही दूसरे नाटक 'पूना पैक्ट' का विमोचन 19 जुलाई 2009 को अस्मिता के तत्वावधान में अरविंद गौड़ के निर्देशन में हुआ। जानकारी के लिए सुशील कुमार वाल्मीकि का ग्रुप 'पहल नाट्य मंच' भी दिल्ली में मैला ढोने वाले कामगारों के साथ मिलकर रंगमंच कर रहे हैं। विशेष रूप में ये नाटक हैं – अम्मा, दुखी, एक बटा तेरह, एकलव्य आदि।

वरिष्ठ कथाकार तथा नाटककार माता प्रसाद जी[28] का मानना है कि दिल्ली और उत्तर प्रदेश में नाटक तो हो रहे हैं, लेकिन नियमित रूप में नहीं, पर जितने भी नाटकों की प्रस्तुति हुई, उनका प्रभाव जरूर हुआ। दलित समाज के युवा सजग होकर जुल्म और अत्याचार का मुकाबला कर रहे हैं। उनका 'अंतहीन बेड़िया' संयुक्त एकांकी नाटक के रूप में हमारे सामने हैं। जिसमें वर्ण व्यवस्था और जातिवाद पर जबरदस्त चोट की गई है। पुस्तक में संकलित कुछ एकांकियों में इतिहास है तो कुछ में राजनीति। अलग–अलग परिस्थितियों में निर्मित पात्रों से पाठक रू–ब–रू होते हैं। उदाहरण के लिए शंबूक वध, द्रोणाचार्य का पक्षपात, हीराडोम, स्वामी अछूतानंद तथा देवदासी प्रथा के बहाने उन्होंने अपने एकांकियों में तत्कालीन विषमताओं को प्रस्तुत किया है।[29] साथ ही इन एकांकियों में स्वस्थ परम्परा हेतु संदेश भी है। बकौल डॉ. लाल साहब सिंह डॉ, माता प्रसाद का ऐतिहासिक नाटक संयुक्त एकांकी अंतहीन बेड़िया उनकी साहित्य यात्रा की विशिष्ट उपलब्धि है। इस कृति की प्रेरणा उन्हें राहुल सांकृत्यायन की प्रसिद्ध रचना 'बोल्गा से गंगा' से मिली। उन्होंने स्वयं लिखा है, 'इस कृति में मैंने राहुल सांकृत्यायन की 'वोल्गा से गंगा' की शैली अपनाई है।.....मैंने 2000 ई. पूर्व से अब तक की भारत की सामाजिक और धार्मिक स्थिति को प्रदर्शित करने

के लिए नाटक के विभिन्न दृश्यों को माध्यम बनाया है।''

देखा जाए तो डॉ. रांगेव राघव ने भी मानव की विकास–यात्रा को 'अंधेरा रास्ता और महायात्रा : रैन और चंदा' में अंकित किया है। राघव जी ने दोनों 'महायात्राओं' में प्रागैतिहासिक काल से लेकर 1200 ई. तक की मनुष्य की विकास–यात्रा को उपन्यास के रूप में लिखा है।[30] जबकि वही कार्य माता प्रसाद जी ने नाटक विधा में किया है। देखें एक उदाहरणः एक एकांकी में डॉ. अम्बेडकर की भूमिका निभा रहे किरदार को जवाब देते हुए जत्थेदार तेज सिंह (पात्र) कहते हैं, डॉ. बाबा साहेब और डॉ. राम मनोहर लोहिया के विचार में जिस दिन समाज के लोग एक साथ बैठकर भोजन करेंगे और बिना भेद–भाव के उठने–बैठने का अभ्यास पड़ जाएगा। उस दिन भारत अति शक्तिशाली देश होगा। इस संवाद में सकारात्मक पहल है। नाटककार जाति भेद का खंडन तो करता है, लेकिन देश की अखंडता भी उसके सामने है। उसे वह कोई आंच नहीं आने देता।[31]

वीरांगना ऊदादेवी पासी नाटक के सम्बन्ध में

हिन्दी दलित साहित्य जितनी तेजी से आलोचना का विषय बनता जा रहा है, उतनी ही तेजी से उसका सृजन भी हो रहा है। दलित साहित्य की कटु आलोचना दलित साहित्य की प्रगति की द्योतक है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि दलित लेखकों ने हिन्दी साहित्य के सौन्दर्य शास्त्र को पूरी तरह ध्वस्त कर दिया है। उन्होंने उन मूल्यों को अस्वीकार कर दिया है जो हिन्दी लेखन के केन्द्र में रहे हैं। उन्होंने उन अवधारणाओं को बदल दिया है जो सवर्णों का नीतिशास्त्र हैं। उन्होंने दलित चेतना के उन तमाम स्तंभों को इतिहास के गर्भ से खोज निकाला है, जिनके दमन पर हिन्दू शासक वर्ग ने अपने वैभव का निर्माण किया है। त्रासदी तो यह है कि इतिहासकारों ने दलित नायकों के चरित्रों का विकृतीकरण किया है।

उदाहरण के लिये हिन्दी के सवर्ण रचना संसार में गांधी जी देश की स्वतंत्रता के महानायक हैं, पर करोड़ों अछूतों की मुक्ति के महानायक डॉ. अम्बेडकर को वह स्मरण नहीं करता है। वह 1857

के विद्रोह के लिये मंगल पाण्डे का अभिनन्दन करता है, पर उस विद्रोह के मूल में मुख्य भूमिका निभाने वाले मातादीन भंगी को भूल जाता है। उसमें रानी लक्ष्मीबाई की वीरता समादृत है, परन्तु अपनी शहादत देकर रानी को किले से सुरक्षित निकालने वाली दलित वीरांगना झलकारी बाई का उसके लिये कोई महत्व नहीं है। इन विस्मृत, उपेक्षित और तिरस्कृत दलित नायकों पर दलित रचना कर्म सिर्फ इसलिये महत्वपूर्ण नहीं है कि वह हिन्दी रचना कर्म के एक चिन्तनीय पक्षपात का पर्दाफाश करता है, अपितु उसका इसलिये भी महत्व है कि वह एक नये सौन्दर्य शास्त्र का निर्माण करता है।

माता प्रसाद द्वारा रचित 'वीरांगना ऊदा देवी पासी' नाटक इसी अभीष्ट की एक सशक्त रचना है। वे दलित चेतना के एक प्रख्यात लेखक हैं, जिन्होंने काव्य और नाटक विधा में अपनी कालजयी कृतियों से हिन्दी दलित साहित्य को समृद्ध किया है। दलित कविता में उनकी लोकशैली की कविताओं ने जहां हीरा डोम की प्रखर दलित चेतना को आगे बढ़ाया है, वहां दलित नाट्य धारा को भी सशक्त रूप में प्रवाहित करने में उनका रचनात्मक अवदान अद्वितीय तथा अप्रतिम है। इन्होंने अपने नाट्य लेखन से दलित साहित्य के एक बड़े अभाव को भरा है, इसमें सन्देह नहीं।

माता प्रसाद जी की आधा दर्जन कृतियों में प्रस्तुत कृति का ऐतिहासिक महत्व है, क्योंकि यह न केवल एक विस्मृत इतिहास का अनुसंधान है, बल्कि एक दलित पासी जाति की गौरव गाथा भी है, जो किसी समय वीर और शासक जाति थी। यह इस नाटक में वीरांगना ऊदा देवी के कथानक के माध्यम से अभिव्यंजित है। ऊदा देवी लखनऊ के उजरिगांव गांव की पासी जाति की एक दलित महिला थी, जो 1857 के स्वतंत्रता संग्राम में बेगम हजरत महल की महिला सेना में भर्ती होकर नायक बन गयी थी। लेखक ने अनेक ऐतिहासिक ग्रंथों का अध्ययन करके इस नाटक की रचना की है और दलितों से सम्बन्धित एक गहरे तत्कालीन सच का उद्घाटन किया है।

नाटक की विषय वस्तु तीन अंकों तथा चौदह दृश्यों में विभाजित है। प्रथम अंक में पांच दृश्य हैं। पहले दृश्य में बड़ी बेगम और वाजिद

अली शाह का वार्तालाप है। बेगम बताती है कि अंग्रेजों की नजर अवध की रियासत पर है। वह यह भी बताती है कि लखनऊ और उसके पास एक पासी जाति रहती है, जो बड़ी बहादुर और लड़ाकू कौम है। वह यह भी स्पष्ट करती है कि एक हजार साल पहले लखना नामक पासी ने ही आज के लखनऊ को बसाया था। दूसरा दृश्य पासी सभा का है, जिसमें पासी जाति के उत्थान पर चर्चा है। तीसरे दृश्य में जिसामुद्दोला, राजा बेनी माधव और राजा जय लाल सिंह के बीच सियासी हालात पर चर्चा है, जिसमें जिसामुद्दोला बताते हैं कि नवाब वाजिद अलीशाह के हुक्म से फौज बढ़ाई जा रही है। एक टुकड़ी औरतों की भी बनायी गयी है और इसमें बड़ी संख्या में पासी जाति की औरतों को भर्ती किया गया है। वह यह भी बताते हैं कि बेगम हजरत महल खुद इन्हें ट्रेनिंग दे रही है। चौथा दृश्य कैसर बाग की जर्द कोठी का है, जहां अंग्रेज अधिकारी जनरल आउट्रम नवाब वाजिद अली शाह को गवर्नर जनरल लार्ड डलहौजी का संदेश देता है कि अब नवाब का शासन खत्म किया जाता है। पांचवें दृश्य में सुलेमान और मोहन लाल नामक दो नागरिकों की बातचीत है, जिसमें नवाब का शासन खत्म होने तथा नवाब को कैद करके कलकत्ता भेजे जाने का जिक्र है। इस तरह यह अंक पाठकों में डेढ़ सौ साल पूर्व की यात्रा का कुतूहल जगाकर समाप्त होता है।

दूसरा अंक इस नाटक का प्राण तत्व है। इसमें चार दृश्य हैं। पहला दृश्य दलित सिपाही मातादीन भंगी की उस भूमिका को उजागर करता है, जो 1857 की क्रांति का कारण बनती है। यह दृश्य बैरकपुर छावनी का है, जहां सिपाही मातादीन भंगी मंगल पाण्डे सैनिक के कक्ष में सफाई करते हुए उसका लोटा उठा लेता है। यह मंगल पाण्डे को बरदाश्त नहीं होता है और वह उस पर फट पड़ता है – 'भंगी के बच्चे, तेरी हिम्मत कैसे हुई इस लोटे को छूने की? इसे तूने अपवित्र कर दिया। तब मातादीन बताता है कि मेरे छूने से लोटा अपवित्र हो गया है। पर, जब गाय और सुअर की चर्बी लगे कारतूस मुंह से खींचते हो, तब तुम अपवित्र नहीं होते? तब, तुम्हारा धर्म कहां चला जाता है? दूसरे दृश्य में राजा जयलाल सिंह की हवेली में मम्मू खां और राजा बेनी माधव सिंह के बीच सैनिक क्रांति पर चर्चा है।

इसी दृश्य में मंगल पाण्डे द्वारा बगावत करने और उसे गिरफ्तार कर फांसी देने के बारे में मालूम होता है। माधव सिंह से पूरे देश में विद्रोह फैलने की खबर मिलती है और मम्मू खां बताता है कि जिनको हम छोटी जाति कहकर उनकी उपेक्षा करते हैं, उनके लोग इस लड़ाई में बहुत बहादुरी से लड़ रहे हैं। इसमें मुजफ्फर नगर की कैराना तहसील में भंगी जाति की महाबीरी देवी, एटा में चेतराम जाटव और बल्लू मेहतर, लखनऊ और रायबरेली में पासी, झांसी की रानी के साथ झलकारी बाई कोरिन और जौनपुर के मछलीशहर तहसील में बांके चमार की वीरता का जिक्र किया गया है।

तीसरा दृश्य बेगम हजरत महल की कोठी का है, जहां राजा जयलाल सिंह इत्यादि बेगम से शहजादे बिरजीस कदर को नवाब बनाने का गुजारिश करते हैं और चौथा दृश्य लाल बारादरी कैसरबाग का है, जहां बिरजीस शहजादे की ताजपोशी की जाती है। तीसरे अंक से ऊदादेवी का प्रवेश होता है। इस अंक में पांच दृश्य हैं। पहला दृश्य ऊदादेवी के घर का है, जहां उसका पति मक्का पासी और उसकी सास नौरंगी देवी के बीच वार्तालाप चलता है। ऊदादेवी अपने पति को बताती है कि बेगम हजरत महल द्वारा गोमती के किनारे किस तरह महिलाओं को तलवार, भाला और तीर चलाना सिखाया जाता है। दूसरे दृश्य में लखनऊ के सेठ लाल जी टंडन एक लाख रुपये की सहायता बेगम को देते हैं। उनके जाने के बाद राजा जयलाल सिंह, मम्मू खां और बेनी माधव सिंह आते हैं और अंग्रेजी सेना से लड़ने की रणनीति बनाते हैं। बेगम बताती है कि आलम बाग का मोर्चा वह खुद संभालेगी, चिनहट के मोर्चे पर बेनी माधव सिंह रहेंगे और सिकन्दर बाग के रास्ते मोर्चा राजा जयलाल सिंह देखेंगे और इनके साथ ऊदा पासी की महिला ब्रिगेड रहेगी। तीसरे दृश्य में मम्मू खां से चिनहट के मोर्चे पर जोरदार लड़ाई होने तथा अनेक सिपाहियों के शहीद होने की सूचना पाकर ऊदादेवी चिनहट के शहीदों को देखने जाना चाहती है, क्योंकि उसका पति मक्का उसी मोर्चे पर सिपाही था। वह हजरत महल के साथ चिनहट जाती है और वहां मक्का पासी की लाश को देखकर जमीन पर गिर जाती है। फिर मक्का का पैर छूकर म्यान से तलवार निकाल कर

मक्का की लाश के बदले में फिरंगियों की दर्जनों लाशों से खेलने की प्रतिज्ञा करती है। चौथे दृश्य में ऊदादेवी अपनी सास नौरंगी देवी को मक्का के शहीद होने की सूचना देती है। नौरंगी देवी अपने बेटे और बहू पर गर्व करती है। ऊदा देवी अपनी सास को बताती है कि वह सवेरे ही सिकन्दर बाग में पीपल के पेड़ पर अपने धनुष तीर और हथियारों के साथ चढ़ जायेगी और पति का बदला कई अंग्रेजों को मार कर लेगी। पांचवां दृश्य उसी सिकन्दर बाग की घटना का है। कैप्टन डानसन और क्वेकर वालेस के बीच चर्चा होती है कि उनकी सेना के कई सैनिक सिकन्दर बाग में पानी पीने गये थे वे अभी तक वापिस क्यों नहीं लौटे। वे इसका पता लगाने वहां जाते हैं। वहां पीपल के नीचे वे देखते हैं कि उनकी टुकड़ी के बहुत से सैनिक मरे पड़े हैं। वे आश्चर्यचकित हैं कि इन्हें किसने मारा, जबकि वहां कोई भी नहीं था। कैप्टन डानसन मृतकों के घाव देखकर बताता है कि ये सामने से नहीं, ऊपर से चले तीरों के घाव हैं। लगता है किसी ने इन्हें पेड़ पर से तीरों से मारा है। इसी बीच, क्वेकर वालेस पेड़ पर छिपी ऊदा देवी को देख लेता है और एक ही गोली में उसे नीचे गिरा देता है। किसी औरत की लाश देखकर दोनों को आश्चर्य होता है। दोनो टोपी उतार कर लाश को सम्मान देते हैं। वालेस कहता है, 'अगर मुझे मालूम होता कि यह औरत है, तो मैं इसे कभी नहीं मारता। मैं इसकी बहादुरी की दाद देता हूँ।' ऊदा देवी द्वारा मारे गये अंग्रेज सैनिकों की संख्या 36 है। कैप्टन कहता है, 'ओ गॉड इतने सिपाही मारे हैं। आज 16 नवम्बर 1857 का दिन हिन्दुस्तान की तारीख में अमर रहेगा। हम लड़ाई जीत गये थे, पर जीत कर भी इस लेडी की वजह से हम लड़ाई हार गये। वालेस, इसे सम्मान से यहीं दफना दो और 'अज्ञात वीरांगना' की तख्ती इसके दफन करने वाली जगह पर लगवा दो। यहीं नाटक का पटाक्षेप होता है।

इस नाटक के सम्बन्ध में लेखक ने यह शंका व्यक्त की है कि ''इस कृति का वर्तमान नाट्य कृतियों में शुमार शायद न हो, क्योंकि आजकल के नाटक कला एवं अन्य विशेषताओं को लिये हुए होते हैं। नये नाट्य कृतियों से मैं पूर्ण परिचित नहीं हूँ, इसलिये कुछ लोगों को इसमें कमियां मिल सकती हैं।''

लेखक के नाटक सामाजिक परिवर्तन के सन्देश वाहक हैं। स्वयं माता प्रसाद के विचार में हिन्दी की वर्तमान नाट्य कृतियां न तो दलित विमर्श की कृतियां हैं और न उन सवालों को उठाती हैं, जो नये सौन्दर्य शास्त्र के सवाल हैं। यह व्यवस्था के नाटक हैं, जबकि दलित नाटकों में व्यवस्था के विरोध की धारा है।

नाटक मूलतः लोक शैली में हैं। यह लोक स्वांग और नौटंकी का साहित्यिक रूपान्तरण है। लोक शैली की उपेक्षा करके हिन्दी में लिखे गये नाटकों को सफलता नहीं मिली, जो दलित चेतना के लेखकों के लोक शैली में लिखे गये नाटकों को मिली। माता प्रसाद के नाटकों की यह विशेषता है कि उनमें लोक शैली का भरपूर निर्वाह है। प्रस्तुत 'ऊदा देवी' नाटक भी इस दृष्टि से एक सफल कृति है।

नाटकों में साहित्य अधिक और इतिहास कम होता है। 'ऊदा देवी' नाटक भी इस तथ्य से परे नहीं है। पर इसके बावजूद इतिहास ही 'ऊदा देवी का मुख्य आधार है, इससे इनकार किया जा सकता है। इतिहास तथ्य प्रधान हो सकता है, पर भावना प्रधान नहीं होता। इतिहास कुछ भूलें भी करता है। इन भूलों को साहित्य सुधारता है और साहित्य की भाव प्रवणता ही इतिहास की घटनाओं को रोचक और सन्देश वाहक बनाती है। 'ऊदा देवी' नाटक में इतिहास की अनेक भूलों को माता प्रसाद ने अपनी नयी अभिव्यंजनाओं से सुधारा है और भाव प्रवणता से उसे रोचक और सन्देशप्रद बनाया है। इस नाटक का मूल्यांकन इसी दृष्टि से किये जाने की आवश्यकता है।

बकौल डॉ. अंगने लाल, (पूर्व कुलपति डॉ. राम मनोहर लोहिया अवध विश्वविद्यालय, फैजाबाद, एक बैठक में 200 पृष्ठों की पुस्तक को आद्योपान्त और मनोयोग से पढ़ डालने का मेरा धैर्य और लेखक की विषय संयोजना तथा लेखन शैली, दोनों अद्वितीय है। जिस प्रकार चन्द्रधर शर्मा ''गुलेरी'' ने कहानी ''उसने कहा था'' पाठकों के सामने उत्सुकता के अनेक सवाल, क्या कहा था? किससे कहा था? कब कहा था? क्यों कहा था? आदि खड़े कर देती है। उसी प्रकार यह ''एकांकी की शृंखला बद्ध पुस्तक पाठकों को उत्कंठित करती रहती है कि ''आगे और भी है'', आगे वह क्या है, यही तृष्णा

उसे अगले उत्तरोत्तर पन्ने पलटने और पढ़ने के लिये बाध्य करती रहती है।

2000 वर्षों के भारत के सामाजिक और सांस्कृतिक उतार–चढ़ाव के साथ इतिहास की अनेक गांठों को खोलने वाले वरिष्ठ नाटककार माता प्रसाद जी ने अपनी नवीन रचना ''अंतहीन बेड़ियाँ'' में सुन्दर ढंग से लिपिबद्ध किया है।[32]

स्वयं माताप्रसाद के मतानुसार नाटक लिखने की प्रेरणा मुझे बचपन से विवाह–शादी में जाने पर जातीय नौटंकियों को देखने से मिली। उस समय रात्रि में और खिचड़ी के दिन नृत्य–गान के साथ वे नौटंकी खेलते थे। इसे देखने के लिए देहातों से दर्शक कई–कई मील पैदल चल कर आते थे। इनमें स्त्रियां बड़ी मात्रा में होती थीं। नौटंकी में स्त्री का पाठ कोई लड़का स्त्री की पौशाक पहनकर करता था। इसे लोग बड़े ध्यान से देखते थे। इनमें कुछ का सम्बन्ध पौराणि ाक राजा–रानियों और नामी डकैतों से होता था।

सभा–सोसाइटियों में जो बात भाषण में रूप में कही जाती थी, उसका प्रभाव लोगों पर कम पड़ता था, किन्तु नौटंकी के द्वारा जो बातें कही जाती थीं, उनका प्रभाव लोगों पर अधिक पड़ता था। इसलिए मैंने भी सोचा कि अपने विचारों को समाज के लोगों तक पहुंचाने के लिऐ कि अपने विचारों को समाज के लोगों तक पहुंचाने के लिए नाटक क्यों न लिखा जाये? नाटक के पहले किसी की वन्दना करके लिखे गये, जैसा कि नौटंकियों में होता था। इसमें लोकगीत भी मैंने रखे। बाद में वन्दना को छोड़ दिया। हां, नाटक में कहीं एकाध गीत अवश्य लिखे। उस गीत का सम्बन्ध भी समाज सुधार या जातीय सुधार से ही संबंधित रहा। मेरा विचार है कि यदि नाटक मंचित किये जाये तो इसका बड़ा प्रभाव लोगों पर पड़ता है। 'अछूत का बेटा' नाटक कई स्थानों पर खेला गया है, जिसमें दर्शकों की संख्या काफी रही है।

जयप्रकाश कर्दम का मानना है कि माता प्रसाद जी मूलतः नाटककार हैं, अतः स्वाभाविक है कि कविता आदि की तुलना में एकांकी और नाट्य लेखन में उनका मन अधिक रमा है। और इसलिए इस महत्वपूर्ण कृति का सृजन भी उन्होंने एकांकी रूप में

किया है। दलित मानस को उसकी ऐतिहासिक परम्परा के साथ समझने की दृष्टि से यह एक मुकम्मल ग्रंथ है।

निश्चित ही इतिहास का गंभीर अध्ययन, प्रसंग–परिकल्पना की बुद्धि और उपलब्ध इतिवृत्तों की संगत एकात्मकता स्थापित करने की अद्‌भुत क्षमता डॉ. प्रसाद में दिखाई पड़ती है। उनके इस नाटक में आद्यांत संघर्षमयी स्थितियों की शृंखला, सक्रियता का वेग और समष्टि–प्रभाव–स्थापना की प्रवृत्ति मिलती है। इसमें भाषा प्रसंग और रस के अनुकूल होकर कहीं सरस, कहीं ओज–प्रधान, कहीं–कहीं व्यवहारिक बनती चली है। मुहावरों के प्रयोग की न्यूनता के कारण भी उसमें शिथिलता नहीं मिलती। वाक्यों के जिस अंश पर बल पड़ना चाहिए वह तो है ही, साथ ही शैली के अन्य गुण–धर्म भी यथास्थान नियोजित दिखाई पड़ते हैं। तड़प मुक्ति की, धर्म परिवर्तन, प्रतिशोध जातियों का जंजाल आदि हैं।[33]

उनके अन्य नाटकों में अछूत का बेटा, धर्म के नाम पर धोखा, वीरांगना झलकारीबाई, वीरांगना ऊदादेवी पासी, माता प्रसाद जी के कोई भी नाटक हों या एकांकी उनके माध्यम से जाति व्यवस्था पर निर्ममता से वे चोट करते हैं। तभी तो वे संत रैदास की वाणी का उदाहरण देते हुए कहते हैं –

जात, जात में जात है ज्यों केरन के पात।
रैदास न मानुष जुड़ सके, जौं लौं, जातनु जात।

हमारे देश में जातियों का मकड़ जाल, अब लोगों के जी का जंजाल बन गया है। जाति समस्या को सुलझाने का जितना ही प्रयास किया जाता उतना ही वह उलझती जा रही है, जो देश के लिए एक समस्या बन गई है।[34]

उनकी एकांकियों में भाषा और शैली की, लवण्यता तथा माधुर्यता के बिना सीधे–सादे रूप में संवाद होते हैं वह भी सवालियों के रूप में। उदाहरण के लिए 'जातियों का जंजाल' एकांकी में क्लास रूम में कुसुम शुक्ला पूछती है, ''सर अभी तक तो हम यह जानते रहे कि ऊंची जाति में जो पैदा होता है, पूर्व जन्म में उसने अच्छे कार्य किए थे। और जिसने खराब काम किए थे, वह नीची जति में पैदा

हुए थे आपकी बात उससे मेल नहीं खाती।

नाटककार माता प्रसाद व्यंग्य की मार करने में भी पीछे नहीं हैं। ऐसे ही एक एकांकी में भाग्य विधाता ब्रह्मा के दरबार का दृश्य वे अपनी कुशल लेखनी से उपस्थित करते हैं।

बकौल डॉ. हरि सिंह पाल प्रख्यात दलित साहित्यकार मोहनदास नैमिशराय नाट्य विद्या के कुशल चितेरे हैं। उनके अनगिनत नाटक सफलता पूर्वक मंचित और प्रसारित हो चुके हैं। उनकी सध प्रकाशित नाट्य कृति 'हैलो कामरेड' राजनेताओं की जीवन क्रियाओं के विरोध ाभासों की प्रतीत होती है। वहीं डॉ. उमेश कुमार लिखते हैं कि नैमिशराय समकालीन समस्याओं के प्रति सज्जा ही नहीं बल्कि रंगमंच की बारीक समझ भी रखते हैं। अपने इस नाटक में उन्होंने दलितों पर हो रहे अत्याचारों को सजगता से बखूबी चित्रित किया है।[35]

वहीं प्रसिद्ध नाटककार राजेश कुमार की प्रस्तुति प्रभावपूर्ण होती है। उनके एक नाटक (अप्रकाशित) हवन कुंड का एक दृश्य देखें

ट्रस्टी 1 : अब क्या होगा, मंडल मिश्र तो रहे नहीं।
ट्रस्टी 3 : खाली हो गया पुजारी पद।
ट्रस्टी 4 : पुजारी पद रिक्त नहीं रहना चाहिए।
ट्रस्टी 5 : जितनी जल्दी हो भरो।
ट्रस्टी 1 : लेकिन इतनी जल्दी कहां से लाएं?
ट्रस्टी 3 : किसे बनाए पुजारी?
ट्रस्टी 2 : पुजारी के लड़के को बना दो।
अन्य : धनंजय मिश्र को।
ट्रस्टी 4 : वह तो एक नम्बर का लफंगा है।
ट्रस्टी 5 : दो बार जेल जा चुका है।
ट्रस्टी 1 : हरामी इतना है कि अपनी जाति वालों को भी नहीं छोड़ता।
ट्रस्टी 3 : त्रिवेदी की लड़की को भगा ले गया था।
ट्रस्टी 4 : उसके सारे लक्षण तो खराब हैं।
ट्रस्टी 5 : ब्राह्मण तो लगता ही नहीं है।

ट्रस्टी 1 : लाख एब हों लेकिन हैं तो वह ब्राह्मण पुत्र?

ट्रस्टी 2 : हो!

अन्य : कोई काल, कर्म और कानून उसे गैर ब्राह्मण नहीं बना सकता। बुलाओ इसे।[36]

नेपथ्य में ध्वनि होती है। मंदिर द्वार की तरफ से एक युवक प्रवेश करता है। यह मंडल मिश्र का पुत्र धनंजय मिश्र है।

ट्रस्टी 2 : ब्राह्मण ब्रह्म होता है और ये ब्रह्म सैकड़ों–हजारों वर्षों से ब्राह्मण हो जाता है। हवनकुंड के पास से पूजा की थाली उठाकर धनंजनय मिश्र के पास जाकर पंडित मंडल मिश्र के प्राणोत्सर्ग के बाद जो पद रिक्त हुआ है, उसके लिए हम उनके ज्येष्ठ पुत्र धनंजय मिश्र की घोषणा करते हैं।

ट्रस्टी 2 : धनंजय मिश्र के माथे पर तिलक लगाता है। अन्य ट्रस्टी शंख बजाते हैं। भक्तगण अक्षत के दाने फेंकते हैं। घंटे–घड़ियाल बजाते हैं। धनंजय मिश्र बढ़ता है, हवन कुंड के पास आता है। घुटने के बल आकर हवन कुंड पर माथा टिकाता है। भूमि पर पड़ी तलवार को उठाकर हुंकार भरता है।

धनंजय मिश्र : हर–हर महादेव! कमरे में घुंघरू, मुंह पर देवता का मुखौटा लगाए और हाथ में तलवार लिए एक भक्त मंच पर आता है और तीव्र गति से नृत्य करने लगता है।

गांधी-अम्बेडकर वैचारिक द्वंद्व

महात्मा गांधी और डॉ. भीमराव अम्बेडकर के विचारों में कितना द्वंद्व था? जाति, वर्ण, अस्पृश्यता और धर्म पर उनकी अक्सर लंबी बातचीत होती थी, जो हर बार असहमति पर ही खत्म होती थी। अब न तो महात्मा गांधी हैं और न अम्बेडकर। लेकिन दोनों महापुरुषों के विचारों में इन विषयों में कैसे विवाद उभरते थे। इसका आज 'असमाप्त संवाद' नाटक के जरिए बखूबी अभिव्यक्त किया गया। 'असमाप्त संवाद' जाने–माने नाटककार राजेश कुमार ने ही लिखा है।

विशुद्ध रूप से महात्मा गांधी और अम्बेडकर के संवादों पर इस नाटक का मंचन कुछ अलग अंदाज में था, जो यह मूल संदेश देता है

कि वर्ण व्यवस्था भारतीय सामंतवाद की उपज है, जिसकी विचारधारा ब्राह्मणवाद हैं। यह व्यवस्था जहां एक व्यक्ति को जन्म से ही शासक बनाती है वहीं दूसरे को शासित व शोषित। यदि भारतीय समाज को आधुनिक व लोकतांत्रित बनाना है तो मनुष्य और मनुष्य के बीच की इस गैरबराबरी को खत्म करना जरूरी है। नाटक 'असमाप्त संवाद' का पाठ राज्य सूचना केंद्र, हजरतगंज में राजधानी के साहित्यकारों, बुद्धिजीवियों व रंगकर्मियों के बीच किया गया। नाटक पाठ का आयोजन जन संस्कृति मंच ने और संचालन व संयोजक कौशल किशोर ने किया।

नाटककार राजेश कुमार ने कहा कि यह नाटक पारंपरिक कथाओं की अपेक्षा गांधी और अम्बेडकर के बीच जाति, वर्ण, अस्पृश्यता व धर्म के विषय पर जो लंबी बातचीत हुई थी या जिन मुद्दों को लेकर विवाद रहा था, पर केंद्रित है। भले ही आज गांधी और अम्बेडकर नहीं है, लेकिन उस वक्त का विवाद आज तक नहीं सुलझा है। दो विचारधारा वाले लोग आज भी मौजूद हैं। चाहे यह क्षेत्र राजनीति का हो या संस्कृति का। नाटक पर प्रतिक्रिया जाहिर करते हुए कौशल किशोर ने कहा कि आज समाज जिस वर्ण व्यवस्था के धरातल पर टिका है, उसे नष्ट किए बिना न तो जातिभेद को खत्म किया जा सकता है, न अस्पृश्यता मिटाई जा सकती है बल्कि यह वर्ग संधर्ष की राह में सबसे बड़ा रोड़ा है।

कथाकार सुभाष चंद्र कुशवाहा ने इसे एक जरूरी नाटक बताते हुए कहा कि जो लोग वर्ण व्यवस्था के हितैषी हैं, वे कहीं न कहीं समतामूलक विचारधारा के भी विरोधी हैं। आज जहां जाति, वर्ण का खुला खेल हर तरफ चल रहा है, यह नाटक उन चेहरों को बेनकाब करता है। भारतेंदु नाटक अकादमी के निदेशक सूर्यमोहन कुलश्रेष्ठ ने कहा कि यह नाटक दो विचारों के संघर्ष पर केंद्रित है, लेकिन कई जगह गांधी और अम्बेडकर के बीच का वैचारिक द्वन्द्व राम और रावण के बीच युद्ध के रूप में दिखता है। गांधी को वैचारिक रूप से कमजोर ढंग से पेश किया गया है। कई नाटकीय दृश्य हैं जो बहुत प्रभावी हैं। पारंपरिक 'स्ट्रक्चर' का यह नाटक नहीं है। इसलिए इसमें 'क्लाइमेक्स' जैसा नहीं दिखता। लेखक अजय सिंह का कहना था

कि अम्बेडकर की सीमा उजागर हो चुकी है और अम्बेडकर सत्ता के लिए ग्रहण हो चुके हैं। आज दलित विमर्श उसके आगे निकल चुका है और मार्क्सवादी नजरिए से सवालों को देखने की जरूरत है। राजेश कुमार का यह नाटक इस अर्थ में बहुत सामयिक नहीं है।

कानपुर से जहां के. नाथ का नाटक 'आम्रपाली' इतिहास से राजनीति की यात्रा करते हुए दलित पाठकों को चेतना के स्त्रोतों से परिचय कराते हैं वहीं उसी शहर से युवा नाटककार तथा रंगकर्मी देवकुमार की हां! हां! हां मैं भंगी हूँ, तथा डोम से महार तक आदि के द्वारा दलितों के भीतर एक ग्रुप है, जिसमें दलित, पिछड़ी जातियों के साथ मुस्लिम भी शामिल है। लंबे समय से रंगमंच में प्रतिबद्धता के साथ वे लगे हैं।

सच कहा जाए तो हमारे वर्तमान की बहुत सारी समस्याओं की जड़े इतिहास में हैं। इतिहास की उन बहसों को नाटक के जरिए प्रस्तुत करना एक चुनौती भरा काम है। राजेश कुमार का असमाप्त संवाद इस चुनौती को स्वीकार करता है और यह संप्रेषित करता है कि इतिहास के झाड़–झंखाड़ को साफ करके ही वर्तमान में आगे बढ़ा जा सकता है।

रामपुर के ललित सुरजन छत्तीसगढ़ को कला, नृत्य तथा नाटक के क्षेत्र में एक गौरवशाली राज्य के रूप में मानते हैं। उनका मानना है कि यहां सामाजिक परिवर्तन की लहर बहुत पहले आ चुकी थी। विशेष रूप में रायपुर (छत्तीसगढ़ की राजधानी) की परम्परा नुक्कड़ नाटकों की अधिक रही। पिछले दो दशक से दलित चेतना में विकास हुआ। सूरज भाई खाण्डे, मन्नालाल देवदास, विभु कुमार, मूलचंद जागड़े ऐसे कितने ही नाटककार और रंगकर्मी हैं, जिन्होंने दलित चेतना में सहयोग किया।

रायपुर से ही डॉ. जे. आर. सोनी लिखते हैं कि पंथी नृत्य छत्तीसगढ़ के गांवों में सैंकड़ों वर्षों से पारंपरिक ढंग से चला आ रहा है। गांव–गांव में सतनामी समाज बाबा घासीदास जी के प्रेरणास्पद संदेशों को गाते बजाते हुए एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को ये दायित्व सौंपते रहे हैं। देवदास बंजारे, की पंथी पार्टी तो काफी प्रसिद्ध हो गई है। उन्हें 1975 में राष्ट्रपति पुरस्कार मिला था। लोक कलाकारों

के साथ हबीब तनवीर ने बहुत पहले 'नया थियेटर – की स्थापना की थी। स्वयं तनवीर के अनुसार मुझसे कहीं अधिक यहां के दलित आदिवासी कलाकार कला को समझते तथा जीते हैं। देखा जाए तो जहां बहुचर्चित नाटककार शंकर शेष तथा विभु खरे आदि ने नये प्रयोगों से रंगमंच को समृद्ध किया वहीं बस्तर में लाला जगदलपुरी एवं कृष्ण कुमार के द्वारा लिखित नाटकों के प्रदर्शनों ने बस्तर के रंगमंच को गर्माहट दी।

प्रा. डॉ ईश्वर नंदपुरे के अनुसार दलितों के जीवन का दूसर नाम संघर्ष है। संघर्षरत व्यक्ति ही समाज का सत्य खोज सकता है। इस सत्य को आगे बढ़ाने का प्रयास हिन्दी की दलित साहित्यकार डॉ. सुशीला टाकभौरे कर रही हैं। इनका उद्देश्य भारतीय समाज व्यवस्था में परिवर्तन लाना है। इसी प्रयास में इन्होंने सत्य को नंगा करके स्टेज पर प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। साहित्य, समाज और संस्कृति का अनूठा संबंध इस नाटक में है। सर्वहारा वर्ग तक अपनी बात पहुंचाकर लेखिका क्रांति का बिगुल बजाना चाहती है। इस नाटक के द्वारा फुले–अम्बेडकर तत्त्वज्ञान और दलित साहित्य लेखन के उद्देश्य को जन–जन तक पहुंचाने का प्रयास किया गया है।

'नंगा सत्य' एक गांव की कहानी है। यहां नाटककार कृपाशंकर और सूत्रधार कमल रहते हैं। गांव के दलित–पिछड़ों के सामाजिक, शैक्षणिक, आर्थिक, शोषण को दिखाने के लिए सफल दृश्य योजना और पात्र योजना की गई है। दलित शोषण से मुक्ति का मार्ग फुले–अम्बेडकर विचारधारा का, प्रगति–परिवर्तन का आन्दोलन बताया गया है।

डॉ. सुशीला टाकभौरे लिखती हैं कि मेरा उद्देश्य नाटक लिखना नहीं था। मैं तो लिखना चाहती थी दलित, शोषित जीवन की व्यथा–कथा। न जाने कैसे उसमें नाटक के प्रसंग चले आये। एक के बाद एक, सिलसिला जुड़ता गया और आ गया आप सबके सामने नंगा सत्य।

सर्वप्रथम मेरे ध्यान में सत्य आया। मुझे सत्य अधूरा लगा, तब मैंने उसे नंगा सत्य कहा। 'नंगा' शब्द पढ़कर और सुनकर कुछ साथियों ने कहा –

''नंगा सत्य नाम अच्छा नहीं लगता। कोई दूसरा नाम रखे।''

मुझे मेरी बात कहने के लिए यही शीर्षक सटीक लगा। इसके विश्लेषण के साथ कथा, कथोपकथन के रूप में आगे बढ़ती गई। मुझे संतोष हुआ कि जब कथा स्वयं ही आगे बढ़ ही है तब तर्क–वितर्क की गुत्थी में न उलझते हुए, क्यों न इसे मंजिल तक पहुंचा दिया जाये?

इधर युवा दलित कथाकार और नाटककार रूप नारायण सोनकर की कृतियों (नाटकों) का भी तेजी के साथ मंचन हुआ है। उनके द्वारा लिखा गया 'एक दलित डिप्टी कलेक्टर' अच्छा नाटक है।[37] वहीं लखनऊ में 2004 में सम्यक नाट्य संस्थान की स्थापना हुई थी, जिसके माध्यम से श्याम कुमार ने डोम पहलवान, अहसास तथा पन्नाधाय नाटकों का लखनऊ में निर्देशन किया। जहां तक हिमाचल प्रदेश में दलित नाटकों या रंगमंच की बात है, वह उतना मुखर नहीं है। हालांकि गेयटी थियेटर, माल रोड शिमला, तथा हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय में कालचक्र, चक्रव्यूह, अंधेरी गली का सफेद मकान, देवदास आदि नाटक खेले जाते रहे हैं, लेकिन वे दलित विषयों से अछूते हैं। जैसा ललिता जी कहती है कि प्रदेश के गांवों में जाति भेद अभी भी है, लोग देवी–देवताओं को स्वीकार करते हैं, वे इनके जीवन का जरुरी अंग हैं। इसलिए दलित मुद्दों पर सीधे–सीधे नाटक नहीं होते। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो पहाड़ पर रहने वाले दलित लेखकों या नाटककारों के स्वर उतनी मुखरता से नहीं गूंजते जितना उत्तरी भारत में।

संदर्भ

1. डा. किरन चन्द्र शर्मा, हिन्दी नाटक में विद्रोह की परम्परा, विचार प्रकाशन दिल्ली 1991 पृ. 3।
2. "The dead writers are removed from us because we know so much more than they did" उद्घृत, अज्ञेय : त्रिशंकु, पृ. 39।
3. अज्ञेय : वही, पृ. 39।
4. अज्ञेय 'लेखक के चारों ओर', 'लिखि कागद कोरे' पृ. 12।
5. "The term revolution, outside the natural science, connotes a

sudden and far-reaching change, a malur break in the continuity of development. It's applicatin is often specifically indicated by a qualifiying adjective, as in the expression of cultural revolution or Industrial revolution." *Encyclopaedia of Social Sciences*, Vol. XIII & XIX, p. 367.

6. In nineteenth century political science in term when used alone was meant to refer to political revolution. *Encyclopaedia of Social Sciences*, Vol. XIII-XIX, p. 307.
7. हिन्दी नाटक में विद्रोह की परम्परा, विचार प्रकाशन दिल्ली 1991, पृ. 23।
8. वही, पृ. 48।
9. यह तो स्पष्ट है कि आधुनिक काल के आरंभ से ही बंगला की देखा–देखी हमारे हिन्दी के नाटकों के ढांचे पाश्चात्य होने लगे। नांदी, मंगलाचरण तथा प्रस्तावना हटाई जाने लगी। भारतेन्दु ने ही 'नीलदेवी' 'सती प्रताप' में प्रस्तावना नहीं रखी, हां आरंभ में यशोगान या मंगल गान रख दिया है। भारतेंदु के पीछे तो यह भी हटता गया।
10. When Nietzche declared the death of God, he declared the death of all traditional values as well. Man could create new values only by belonging God: the only alternative to nibition in revolt."—Robert Brustein: *The Theatre of Revolt*, p. 8.
11. दलित हस्तक्षेप, सं. ओमप्रकाश वाल्मीकि, नई दिल्ली 2001, पृ. 109।
12. वही पृ. 110।
13. 'सोहनलाल शास्त्री, बाबा साहेब अम्बेडकर के साथ मेरे पच्चीस वर्ष, पृ. 256।
14. के. एन. पणिक्कर, वामपंथी सांस्कृतिक हस्तक्षेप : परिप्रेक्ष्य और व्यवहार, हंस, अप्रैल, 1997, पृ. 16, वही, पृ. 19।
15. मेरठ निवासी दलित नाट्यकर्मी कांति एवं मुखराम से बातचीत के आधार पर।
16. पुणे में रामनाथ चव्हाण से बातचीत के आधार पर एवं साक्षीपुरम, 1991 (भूमिका से)।
17. वीरेन्द्र वर्मा, रोटी और बेटी का व्यवहार करने से कतराते हैं, बयान : स. मोहनदास नैमिशराय, बी.जी. 5ए/30 पश्चिम विहार, नई दिल्ली पृ. 49।
18. रजनी तिलक, अभिमूक नायक, नई दिल्ली।
19. दलित साहित्य की अवधारणा में रंगमंच विषय पर 2008 में भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला में हुई राष्ट्रीय संगोष्ठी में कर्मशील भारती के द्वारा पढ़े गये शोध पत्र से।
20. भीमसेन संतोष, शोषितों के नाम संतोष का पैगाम, शोषित साहित्य प्रकाशन, बी–166, सुभाष मोहल्ला, उत्तरी घोण्डा, दिल्ली–53।

21. भीमसेन संतोष, कर्मयोगी, भारतीय अम्बेडकर सेवा दल, 197 नार्थ एवेनयू, नई दिल्ली।
22. रत्न कुमार सांभरिया, समाज की नाक, डॉ अम्बेडकर साहित्य अकादमी, जयपुर।
22ए. जयपुर – मश्रीलाल मीणा, उदयन, साहित्यगार, एस.एम.ए. हाईवे, 56 जयपुर, 1988।
23. कर्मशील भारतीय से 5 जुलाई 1998 को मुनीरका गांव में (अम्बेडकर चौक) उनके निवास पर बातचीत के आधार पर।
24. यशवंत निकोसे से 26 जून 1998 को राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, मंडी हाऊस, नई दिल्ली के प्रांगण के दौरान बातचीत के आधार पर।
25. मोहनदास नैमिशराय, हैलो कामरेड, सबस्व फाउंडेशन, 224–ए, रजोकरी पहाड़ी, नई दिल्ली – 110038, 2001।
26. दलित हस्तक्षेप, पृ. 116।
27. दिल्ली की सामाजिक कार्यकत्री एवं लेखिका तथा जामिया मिलिया विश्वविद्यालय से एम. फिल कर रही पूनम तुषामड़ से रोहिणी स्थित उनके निवास पर बातचीत के आधार पर।
28. वरिष्ठ दलित साहित्यकार एवं नाटककार, अरूणाचल प्रदेश के पूर्व राज्यपाल माता प्रसाद जी से अरूणाचल भवन नई दिल्ली में लिये गये साक्षात्कार के आधार पर।
29. शिखर की ओर (श्री माता प्रसाद अभिनंदन ग्रंथ) सॅ. डॉ. एन. सिंह, शेखपुरा, जौनपुर (उ.प्र.) 1997, पृ. 220।

मराठी रंगमंच का इतिहास और दलित नाटककारों की उपलब्धि

महाराष्ट्र में लंबे समय तक समता और सम्मान हेतु संघर्ष का दौर रहा है। जिन्होंने दलितों, पिछड़ों तथा महिलाओं की अस्मिता की लड़ाई लड़ी, उनमें अग्रिम पंक्ति के योद्धा ज्योतिराव फुले और बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर रहे हैं। ऐसा माना जाता है कि दलित साहित्य इन्हीं महापुरुषों से प्रेरणा लेकर आगे बढ़ा है।

डॉ. संजय नवले[1] के विचार में मराठी साहित्य ने अपनी एक विशेष मुद्रा स्थापित की है। कविता, कहानी, आत्मवृत्त आदि का मराठी साहित्य में विपुल मात्रा में लेखन हुआ है। उपन्यास और नाटक का लेखन भी हुआ पर अपेक्षाकृत कुछ कम है। इसके अनेक कारण हैं। मात्रा में कम होने का अर्थ यह नहीं है कि उसकी गति क्षीण है। उपन्यास और नाटक कम लिखे गए हैं। फिर भी अपना विशिष्ट परिचय देकर वे विद्या गतिशील हैं।

आधुनिक भारत के आद्य सामाजिक नाटककार, ज्योतिराव फुले ने 1944 में तृतीय रत्न पहला सामाजिक नाटक लिखा, इस नाटक की लिखित संहिता मिल चुकी है, अतः महाराष्ट्र शासन ने इस संहिता को 1969 में प्रकाशित भी की है। स्वयं ज्योतिराव फुले एवं सावित्री बाई फुले ने सत्यशोधक जलसा के अंतर्गत तृतीय रत्न नाटक का मंचन किया, इस नाटक में पाखंडी ब्राह्मण पंडित, धर्म के नाम पर दलित–बहुजनों का कैसे शोषण करते हैं, दलित–बहुजन गरीबों की अज्ञानता का फायदा उठाकर ब्राह्मण पंडित कैसे उन्हें अंधविश्वास के जाल में फंसाते हैं, इसका भंडाफोड़ कर शिक्षा का महत्व महात्मा फुले ने इस नाटक में दर्शाया है। बावजूद इसके इतिहासकारों ने

महात्मा फुले को प्रथम आधुनिक मराठी नाटककार का रूतबा दिया नहीं है, जबकि नाटककार देवल के 30 साल पहले महात्मा फुले ने इस नाटक को लिखा एवं मंचन किया।

मराठी दलित नाटक का इतिहास देखने के बाद स्पष्ट होता है कि महात्मा फुले का 'तृतीय रत्न' (सन् 1855) नाटक मराठी दलित साहित्य का पहला नाटक है।[2] अर्थात् मराठी दलित नाटक के जनक महात्मा फुले हैं। आगे मराठी दलित नाटक की परम्परा लोककला के संदर्भ में जुड़ती रही है। इसमें से तमाशा प्रधान नाट्य की निर्मिती होती है। इसमें लोकजीवन की संस्कृति का प्रतिबिंब स्पष्ट होने लगता है। यह लोककला समाज के उपेक्षित कलाकारों ने विकसित की, उनमें पहला नाम आता है – गोपाल बाबा वलंगकर। बाद में किसन फागू बनसोडे आदि नाम आते हैं। इसी समय महात्मा फुले के विचार जनमानस तक पहुंचाने का काम सत्यशोधक जलसे ने क्रांति का नया विचार स्पष्ट किया। लगभग इसी समय और थोड़े अंतराल पर छत्रपति शाहू महाराज की प्रेरणा से यह जलसे किसान और दलितों पर हुए अत्याचार का प्रगटी करण करने लगे। दलित नाट्य परम्परा का यह दूसरा धागा है अम्बेडकरी जलसे। अम्बेडकरी जलसों से दलितों में जागृति और अस्मिता का निर्माण हुआ। यहां से मूल्यों का प्रसार और प्रचार होने लगा। अर्थात् मराठी दलित नाटक की नींव है – 'जलसा'। इस परम्परा से ही आगे आधुनिक मराठी दलित नाटक का निर्माण होता है।

इस तरह गौतम बुद्ध म. फुले, शाहू महाराज, डॉ बाबा साहेब अम्बेडकर के तत्वज्ञान और विचारों से दलित नाटक निर्माण हुआ है। मराठी नाट्य परम्परा में दलित नाटक का अपना अलग अस्तित्व है। आज तक प्रकाशित मराठी दलित नाटकों में समाज–परिवर्तन मुख्य विषय है। इस देश की समाज व्यवस्था की नींद खोलने का काम मराठी दलित नाटकों ने किया है। एक महत्वपूर्ण बात स्पष्ट करनी होगी कि नाट्य परम्परा में जो नाटकीयता होती है, वह दलित नाटक को मंजूर नहीं है। दलित नाटक सामाजिक दु:खों से निर्मित होता है।

दलित नाटको में चित्रित इतिहास मात्र स्मृति नहीं होती वह तो

मानव संस्कृति और मानव मन की साक्ष्य होती है। दलित नाटक इतिहास के गीत नहीं गाते बल्कि इतिहास के यथार्थ से वर्तमान का विश्लेषण करते हैं और भविष्य का विचार उदाहरण के लिए कालोरवाच्या गर्भात नाटक के माध्यम से करते हैं।

इस कारण अराजकता के प्रति चिड़ और मानवता की प्रतिष्ठा के प्रति मराठी दलित नाटक आग्रही है। दलित नाटक विश्व का सर्वोत्तम मूल्य 'मनुष्य' की रक्षा का आग्रह करता है। अर्थात् मनोरंजन की अपेक्षा प्रबोधन के रास्ते पर चलता है। विद्रोह का आविष्कार यानी मराठी दलित नाटक हैं। दलित नाटक के मूल में डॉ. अम्बेडकर के विचार हैं। साथ ही साथ 'आत्मशोध' भी है। अपने आपको शोधने का प्रयास दलित–जीवन में हुआ, इस कारण दलित नाटक में जीवंतता है। मराठी दलित नाटक का और एक वैशिष्ट्य है – समाजिक संदर्भ। इस बारे में प्रा. दत्ता भगत लिखते हैं कि ''अम्बेडकर के विचार आत्मसात करने से प्राप्त हुआ जीवन दृष्टिकोण के आधार पर अपने आपको और अपने चारों ओर की वास्तविकता को जानने की इच्छा का शब्दरूप आविष्कार यानी–मराठी दलित नाटक। मानवीय जीवन मूल्य और परिवर्तन का प्रवाह शक्तिशाली बनाने का काम मराठी नाटक ने किया है। उदाहरण के लिए 'न्याय', 'मन्वंतर', 'देवनवरी'। परिवर्तन का विचार स्पष्ट करने वाले नाटकों में 'भिक्षुण ाी वासवदत्ता' और 'न्याय' महत्त्वपूर्ण हैं।

बौद्ध धम्म के सद्धम्म का विचार भी कुछ मराठी दलित नाटकों में दिखाई देता है। विषम समाज रचना और अर्थव्यवस्था के प्रति नफरत और आदर्श मानव जीवन का स्वीकार यह दलित नाटक का प्रयोजन है। मराठी दलित नाटक सामाजिक तथा सांस्कृतिक दस्तावेज है। हिन्दुओं की रूढ़ि और परम्परा ने, जात धर्म ने दलित समाज के मनुष्यत्व के अधिकार नकारे हैं। उसके विरुद्ध विद्रोह की भूमिका मराठी दलित नाटक लेकर चलता है। साथ ही साथ वह प्रस्थापित परम्परा को भी नकारता है। दलित नाटक वर्तमान से जन्म लेता है। मराठी दलित नाटक कभी–कभी नाटक के तंत्र को भी तोड़ते दिखाई देता है (उदाहरण – थांबा, रामराज्य येतय) दुख की उत्कृष्टता स्पष्ट करने के लिए मराठी दलित नाटक कभी–कभी

कविता का आधार लेता है (उदाहरण के लिए साक्षीपुरम, न्याय, युगायात्रा) मराठी दलित नाटक की एक विशिष्ट गति है, एक दिशा है, उसका अपनाएक तत्वज्ञान है। समाज विषमता के खिलाफ मानवीय मूल्यों की स्थापना करने का ध्येय लेकर मराठी दलित नाटक अग्रसर है।

मराठी दलित नाटकों में दलितों पर होने वाले अत्याचार, उपेक्षा, दुख के चित्रण के साथ ही सभी प्रकारों के अन्याय के विरुद्ध की भावना होती है। अंधश्रद्धा, जातिवाद पर जमकर प्रहार होता है। इन नाटकों में निराशा नहीं है। यह भी सत्य है कि यहां केवल दलितों की ही दुख चित्रित होता है ऐसा नहीं, मजदूरों के शोषण के विरूद्ध भी आवाज़ उठाई है (उदाहरण तनमाजोरी नाटक है।)[3]

महाराष्ट्र में तमाशा एक लोक रंगभूमि रही है। तमाशा रंगभूमि वर्षों से मनोरंजन, लोकशिक्षण करती आयी है। पहले इसमें देवी देवताओं की कथाएं, अध्यात्म का वर्णन किया जाता था। बाबा साहेब की प्रेरणा से आम्बेडकरी जलसों व कलापथकों की शुरूआत हुई तमाशा करने वाले लोक कलाकारों ने जलसा का मनोरंजन पर आशय बदल दिया और उसे एक नई क्रांतिकारी भूमिका के लिए तैयार किया। इन्होंने ग्रामीण वैचारिक बातों व व्यर्थ के परिहास को हटाकर उसमें ज्ञानमय गीतों, पोवाड़ों व रोचक प्रसंगों को शामिल करके आम्बेडकरी जनता को जमाने का कार्य किया। इसमें पहले यही कार्य महात्मा फुले के आन्दोलन के साथ शुरू हुए सत्यशोधक जलसे ने किया था। पारंपरिक तमाशा के फोर्म में ही परिवर्तनवादी बातों को सत्यशोध ाकी वह आम्बेडकरी जलसाकारों, शाहिरों ने बड़ी कुशलता से पिरो दिया। लेकिन साठे ने पारंपरिक तमाशा जैसे तत्व को तमाशा से बाहर किया। तमाशा अन्ना भाऊ के समय किये जाने वाले गणपति के स्थान पर उन्होंने मात्रभूमि को नमन करने वाली रचना की। अपने प्रखर क्रांतिकारी गीतों 'वह वगनाटियों मसलन अकलेचे गोष्ट' में उन्होंने इसे सहज भाषा में परिवर्तन का संदेश पहुंचाया। हिन्दू धर्म की रूढ़ि, परम्पराओं व जाति भेद को अपना विषय बनाया। और जनता के भीतर चेतना पैदा की। प्रख्यात जलसाकार शाहिर भीमराव कर्डक आम्बेडकरी जलसे के प्रवर्तक रहे हैं। नाए गांव के वेलफेयर

मैदान में हुए जलसे को देखकर बाबा साहेब ने कहा था, ''मेरी दस सभाएं और कर्डक का एक जलसा काफी है।'' गोपाल बाबा वलंगकर, हरिभाऊ तोरेणे, किशन फागुजी वनसोडे, वामन दादा कर्डक इत्यादि प्रमुख जलसाकारों ने महाराष्ट्र की ग्रामीण जनता तक आम्बेडकरी संदेश पहुंचाया।[4]

वरिष्ठ नाटककार डॉ. गंगाधर पानतावणे का मानना है कि आंबेडकरी शाहिरी (शायरी) एक महत्वपूर्ण इतिहास रहा है। उन्होंने आंबेडकरी शाहिरी की चार–पांच विशेषता बतलाई हैं। उदाहरण के लिए अभिव्यक्ति लोकभाषा में होती है, दूसरे रंजना का नकार, तीसरे सामाजिक व सांस्कृतिक परिवर्तन की हिमायती और परिवर्तनिष्ठ आंबेडकरी विचारों को आगे बढ़ाती है।[5]

आरंभ के इतिहास को देखें तो मराठी दलित रंगभूमि अंधश्रद्धा से उजाले की ओर बढ़ने की ऐसी प्रक्रिया थी जिस प्रक्रिया से जुड़ कर मराठी दलित नाटककारों ने अस्मिता और सम्मान की खोज की। मनुष्य को मनुष्यत्वं का अर्थ बतलाया। जुल्म और अन्याय के खिलाफ संघर्ष पथ तैयार किया। अस्पृश्यता देवनिर्मित नहीं, इंसान के द्वारा बनाई गई।[6] लोक शिक्षण की तरफ ध्यान दिया।

डॉ. कृष्णा किरवले[7] पांरपरिक दलित शाहिरी से समाज प्रबोधनकारी दलित शाहिरी पर चर्चा करते हुए बतलाते हैं कि पारंपरिक मराठी शाहिरी करने वाले विपुल दलित शाहिर थे। उनकी हमारे पास लंबी सूची है। उमा बापू, तात्या बापू, राव मांग, शिवा–क्षमा कवलापूरकर

अर्जुना वाघोलीकर, शाहिर हरिभाऊ वडगावकर, भाऊ–बापू (मांग) नारायण गावकर शाहीर भाऊ फक्कड़ परिवर्तन के दलित शाहिरों[8] (शायरों) में गोपाल बाबा वलंगकर, किसन फागूजी वनसोडे आदि।

कितनी सीधी बात किसन फागूजी कहते हैं –

''साहू नका कुणाया जुलूम
होऊ नका कुणाचा गुलाम
सोडून पा रे सारे बडकाम।[9]

वहीं उनकी अगली पंक्तियां देखें –

''दलित बाँधवा जाण रे
समजुन पे ही खूण रे
भरपाशातून मुक्त व्हाया
कर काही तरी पत्न रे[10]

डॉ. कृष्णा किरवले ने आंबेडकरी शाहिरों की पहली पीढ़ी (1920 से 1956 जब डॉ बाबा साहेब का सार्वजनिक जीवन में प्रवेश होता है और उनके परिनिर्वाण तक) में पति पावन दास, शाहीर भीमराव कर्डक, शाहीर केरूजी घेगड़े, अर्जन हरी भालेराव, शाहीर केरुबुवा गायकवाड़, शाहीर केशव सुखा अहिर, शाहीर केरुबुबा गायकवाड़, शाहीर केशव सुखा अहिर, शाहीर रामचन्द्र नामदेव सोनवणे, शाहीर अमृतबुवा वावस्कर को रखा है।[11]

दूसरी पीढ़ी में वामन राव कर्डक, ज़ीधर ओहोले, राजानंद गडपायले, भीमराव नारायण निरभवणे, दीनबंधु गवई, शाहीर शिवराम भोसले, शाहीर विट्ठल उमा, शाहीर पाडुरंग बनमाली हैं।[12]

इस तरह देखा जाए तो महाराष्ट्र में दलित शाहीरों ने अपना विशिष्ट स्थान बनाया है।[13] उनके जीवन के अनुभव समृद्ध थे। वास्तव में बाबा साहेब के उदय ने दलित समाज को एक दिशा दी थी। नये युग में नये परिवर्तन की प्रतीक वामन कर्दक की रचना देखें–

'मी नवी कहाणी होऊन वाणी
गाते भीमाची गाणी भी नवी कहाणी,[14]

यहां विशेष रूप में गैर मराठी पाठकों को यह बताना जरूरी है कि बाबा साहेब से पूर्व और उनके समय के जितने भी शायर थे, वे शायर यानी सिर्फ कवि या गजलकार या कहानीकार या उपन्यासकार या नाटककार ही नहीं थे बल्कि वे सभी सामाजिक परिवर्तन के सूत्रधार थे। उनके भीतर क्रांति के बीज थे।

जैसा दादा साहेब रूपवते ने कहा कि जलसा एक प्रभावी कला प्रकार है और जलसाकार सामाजिक परिवर्तन के लिए प्रतिबद्ध रहे हैं।[15] भगवान ठाकुर लिखते हैं कि उत्तर व मध्य भारत में लोकनाट्य

के संदर्भ में तमाशा का नौटंकी ही एक प्रकार है। विदर्भ तो मध्य प्रदेश की सीमा से सटा हुआ भाग है।इसलिए इनकी संस्कृति, साहित्य कला में समन्वय होना स्वाभाविक है। शाहू महाराज ने तो लोक जागृति, लोकशिक्षण और लोक कल्याण के लिए ही कला और कलाकारों को सहयोग दिया था।[16] महारी तमाशा (ढोलकीचा तमाशा) की परम्परा में दलित तथा शूद्रातिशूद्र के द्वारा तड़क–भड़क के साथ नृत्य होता था, जिसमें तबला, पेटी, झांज आदि प्रयोग होता था।

घनश्याम तलवटकर बाबा साहेब के साथ रहे, कुलाबा जिले की हरवित बस्ती में 'ती सुद्धा' नाटिका का मंचन हुआ तो, उसमें उन्होंने मुख्य भूमिका निभाई। फिर 1943 में उनके नाटक संत सुख तथा 1953 में झुझार राव का मंचन हुआ।

मराठी दलित रंगमंच के वरिष्ठ नाटककार भि.सी. शिंदे बताते हैं कि बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर का भाषण 1936 में उन्होंने सुना। यह भाषण पण्डरपुर स्थित गाड़गे महाराज की धर्मशाला में कार्यकर्ताओं के बीच हुआ था। बाबा साहेब ने उस समय कहा था, ''माताओं अपने बच्चों को पढ़ाओ। मेरी दादी ने यह बात गांठ में बांध ली। शंकर का तीसरा नयन है शिक्षा। मुझे दादी खेलने नहीं देती थी। बम्मन अध्यापक हमें तंग करते थे इसलिए दादी स्कूल के दरवाजे पर चौकसी के लिए बैठती थी। कहीं बच्चे भाग न जाएं, यह भी देखती थी।

जब मैं पांचवीं कक्षा में था और कोरे कागज पर लिखता था। तब बाजू में बैठती थी वह। दादी को अच्छा लगता था। वह बीच–बीच में बोलती थी। पढ़ाई पूरी कर अपने परिवार का नाम रोशन करना है तुझे। मुझे भी दादी की बात में दम लगा। मैंने मन लगाकर पढ़ाई की। पण्डरपुर में मैं पहला ग्रेजूएट था। बस्ती के लोगों के लिए यह खुशी की बात थी। 1962 में बस्ती के लोगों के द्वारा मेरा सत्कार हुआ। इस तरह मेरी दादी और बाबा साहेब मेरे प्रेरणा स्त्रोत रहे।

बकौल शिंदे आठवीं कक्षा में पढ़ते हुए मैं समता सैनिक दल की शाखा में जाता था। हारमोनियम बजाता था। भीम गीत गाता था। ऐसे कार्यक्रम गांव–गांव होते थे। उन्हीं दिनों संत चोखा मेला की

पुण्य तिथि मानते थे। मैंने सोचा, क्यों न नाटक लिखे जाए। हमारे लोग तमाशा, लावणी, सत्यशोधक जलसे, अम्बेडकारी जलसे करते थे।

सत्य शोधक वालों ने शुरूआत की। मनोरंजन खत्म, लावणी खत्म। उनके स्थान पर लोक शिक्षण शुरू हुआ। इसके पीछे दलित समाज को जगाने का उद्देश्य था। फिर सोंगड़ा शुरू हुआ। इसमें प्रबोधन होता था। भीम राव कर्डक हँसते हुए सबक सिखाते थे। वे अंधश्रद्धा दूर करते थे। साथ ही चेतना भी लाते थे।

दलित रंगमंच में मेरा जुड़ाव जीवन के शुरूआती दिनों से ही हो गया। उनका मानना है कि नाटक कला है। डॉ. श्रीराम लागू ऐसा कहते रहे हैं। वे यह भी कहते हैं कि नाटक में प्रबोधन नहीं कर सकते। वे पी.के. अत्रे का उदाहरण भी देते हैं। संयुक्त महाराष्ट्र के आन्दोलन में अत्रे ने उसका उपयोग नहीं किया। मेरे पास जवाब था। जो बाद में दिया। अन्ना भाऊ साठे, इन्होंने अपने गीतों के माध्यम से संयुक्त महाराष्ट्र की मूवमेंट बनाई। अभी प्रतिभा पाटिल ने शोलापुर में कहा, ''नाटक में प्रबोधन और लोकशिक्षण होना चाहिए। मेरे विचार से दलित रंगभूमि में प्रबोधन आवश्यक है।''

टैक्सास गायकवाड का मानना है कि जहां तक मुझे याद आता है, मैं जब स्कूल में पढ़ता था, 1965 में मुझे एक नाटक में भूत की भूमिका करने को मिली थी। मेरी शक्ल–सूरत और हुलिया भी कुछ ऐसा ही था। लोग मुझे देख कर डरते थे। फिर शिकारी का रोल मिला। आरंभ में मुझे मराठी नाटकों में भूमिका करने के अवसर नहीं मिले। वैसे हिन्दी नाटकों में मुझे प्रवेश मिल गया। 1969 में बीमार नाम से नाटक में मुझे रोल मिला। फिर 1971 में ब्लफ मास्टर में मैंने भूमिका निभाई। यह नाटक मैंने स्वयं लिखा। मैं तब एम.एस. कालिज में पढ़ता था। फिर ''चिराग की लौ'' नाटक किया, जिसमें शिंदे जी सहायक निदेशक थे। बाद में मराठी, उर्दू तथा हिन्दी नाटकों में मेरी हिस्सेदारी बढ़ी। इन नाटकों में बर्फ की मीनार, घासीराम कोतवाल, बाकी इतिहास, आखिरी जाम, कालोंखाच्या गर्भातील आदि रहे।[18]

मनवन्तर नाम से आत्म चरित्र नाट्य रूप में मैंने 1984 में लिखा। जो बाद में छपा भी। 1979 में मैंने कुछ साथियों को लेकर

दलित रंगभूमि का गठन किया। मेरे आरंभ के साथियों में अविनाश अम्बेडकर, भि.शि. शिंदे तथा मुरलीधर जाघव आदि थे। उस समय नाटक लिखने की जिम्मेदारी शिंदे पर थी। मैं निर्देशन का कार्य देखता था। सब कुछ ठीक–ठाक चल रहा था, लेकिन साथियों के बीच दरारें आने लगी, जिससे दलित रंगभूमि को धक्का लगा। आन्दोलन भी बिखरने लगा। 1984 में फोर्ड फाउण्डेशन की ओर से हमें 'दलित रंगभूमि' के नाम पर बस मिली। जिसका नाम भिमाई गाड़ी रखा गया। इसी बीच कुछ साथियों को अमेरिका जाने का लाभ हुआ।

बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर ने ऐतिहासिक रूप से धर्मांतरण किया था। आजादी के बाद रामनाथपुरम तथा मीनाक्षीपुरम में दलितों के द्वारा इस्लाम धर्म स्वीकार करने की घटना हुई। हमने वहीं जाकर कुछ लोगों से साक्षात्कार लिये। उसी के बारे में मीनाक्षीपुरम नाटक भी लिखा। आज जो थियेटर है लेकिन पहले जैसा नहीं है। 1980–90 में जैसा था। तब दलित रंगमंच की चर्चा होती थी, प्रस्तुतियां भी होती थीं। अब ऐसा नहीं है, पर थियेटर है उसका स्वभाव बदला, नाम भी बदले। जैसे प्रबुद्ध रंगभूमि, बौद्धि थियेटर और प्रेमानन्द गज्वी का बुद्ध दर्शन इस तरह दलित रंगभूमि के बाद अनेक नाम आये। उनका कहना था कि अब पहले जैसा माहौल नहीं है। लोग व्यक्तिगत रूप से इस क्षेत्र मे कार्य कर रहे हैं। उनके बीच सामूहिकता नहीं है। नाटक पर किताबें ज्यादा आ रही हैं। ये पूछने पर कि क्या वैसा समय लौटेगा? उन्होंने बताया वैसा समय अवश्य आयेगा। प्रयास जारी है हमने प्रयास छोड़ा नहीं। बाबा साहेब का विचार आगे बढ़ रहा है।

रंगमंच कोई हंसी–मजाक नहीं है। इसमें फुले, साहू और बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर का विचार और दर्शन है। एक समय था जब इन तीनों महापुरूषों ने सामाजिक न्याय का संदेश जन–जन में जाकर दिया था। आज हमें उन्हीं से प्रेरणा लेकर दलित रंगमंच को फिर से वैसे ही रूप में लौटाना चाहिए। रामनाथ चव्हाण[19] जी आजकल भटक्या आणि विमुक्त जमातीच्या जनजीवन पर शोधकार्य कर रहे हैं।

15 मार्च 1936 इस दिन मुंबई में चित्तरंजक नाटक मंडली ने बॉम्बे थियेटर में डॉ. बाबा साहेब अम्बेडकर का सत्कार किया। उस वक्त यह नाटक मंडली ने अप्पा साहेब कृत दख्खनचा दिवा (दखन का दिया) इस लोमहर्षक नाटक का मंचन किया। उस नाटक में पेशवा के समय शूद्रों के साथ कितने अमानवीय ढंग से बर्ताव किया जाता था, उन प्रसंगों को चित्रित किया गया।

युगयात्रा (सृजनकाल) का दलित नाट्य के विकास में अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। 14 अप्रैल को बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर के जन्म दिवस पर औरंगाबाद मराठवाडा विश्वविद्यालय के प्राचार्य एम. बी. चिटणीस द्वारा लिखित युगयात्रा नाटक का पहला मंचन किया गया, 20 नवंबर 1955 में बोधि मंडल के तत्वाधान में दूसरी बार यह नाटक खेला गया। 14 अक्टूबर 1956 के ऐतिहासिक धम्मदीक्षा समारोह में अपने सात लाख नव दीक्षित बौद्ध बांधवों की उपस्थिति में इस युग यात्रा नाटक का तीसरी बार मंचन किया गया। यह अपने आप में दुनिया का ऐसा पहला नाटक होगा जो लाखों लोगों के सामने मंचित हुआ, दलित–बहुजन समाज के पतन और उत्थान की ऐतिहासिक गाथा लेखक एम.बी. चिटणीस ने इस नाटक में दर्शाया है। युगयात्रा के दूसरे और तीसरे मंचन के अवसर पर स्वयं बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर उपस्थित थे। 50 साल बाद जब ऐतिहासिक धम्मदीक्षा का सुवर्ण महोत्सव, दुनिया की सबसे बड़ी सांस्कृतिक क्रांति का सुवर्ण महोत्सव उसी दीक्षाभूमि नागपुर में मनाया गया (1956) उस वक्त फिर से लाखों लोगों के सामने आधुनिक तंत्रों के साथ 250 कलाकारों के साथ, इस नाटक (युगयात्रा) का भी सुवर्णमहोत्सवी प्रयोग मैंने (संजय जीवने) प्रस्तुत किया, लोगों ने उसे खूब सराहा।

सामाजिक क्रांति के सशक्त साधन के नाते मराठी दलित नाटक आगे बढ़ता रहा है। यह भी सत्य है कि मराठी दलित नाटकों में पुनरावृत्ति हो रही है। कलात्मकता और गंभीरता से देखने की आवश्यकता लग रही है। नाट्य प्रयोग के सभी गुण इन नाटकों में मौजूद हैं। उसका आशय विस्तारित है और अभिव्यक्ति में नवीनता है। तंत्र में भी स्पष्टता है। पुनरावृत्ति इस कारण है कि दलित–जीवन

तथा सामाजिक समस्या अलग नहीं है। एक स्तरीय कलाकृति अक्सर जीवन–मूल्यों का प्रचार करती रहती है। मराठी दलित नाटककारों में प्रा दत्ता भगत, टेक्सास गायकवाड, प्रेमानंद गज्वी, रामनाथ चह्वाण, भि.सि. शिन्दे प्रमुख हैं।

सभी नाटकों का विषय दलित–जीवन से संबंधित होने के कारण ये नाटक संघर्ष प्रधान और समस्या प्रधान दिखाई देते हैं। 'संघर्ष' इन नाटकों का प्राण है। आरक्षण, अस्पृश्यता दलित–सवर्ण प्रेम व विवाह–संबंध, इन नाटकों का प्राण है।आरक्षण, दलित–सवर्ण प्रेम व विवाह–संबंध, पानी का प्रश्न, जातीयता, समाजीकरण, राजनीति, नामातंर आन्दोलन आदि प्रश्न नाटकों में दिखाई देते हैं।

मराठी के प्रमुख दलित नाटकों में – 'तृतीय रत्न', 'वाट चुकली', 'कपिलवस्तुचा राजकुमार', 'अशोक विजय', 'ईमानदार', 'प्रेमप्रताप', 'कालोरवाच्या गर्भातील', 'भिक्षुणी वासवदत्ता', 'नवी वाद', 'युगयात्रा', गणतंत्र वैशालीचे', 'थांबा–रामराज्य–येतय्', 'कैफियत', 'सूर्यास्त', 'न्याय', 'साक्षीपुरम', 'पोतराज', 'तनमाजोरी', 'शरण', 'एक होता राजा', 'हत्याकांड', 'वाझंमाती', 'इथे मानसाला स्थान नारी', 'आम्ही देशाचे–मारेकरी', 'खेलिया', 'मन्वतंर', 'वाटा–परवाटा', 'प्रकाशपुत्र', 'अकिंचन', 'कारान', 'वादलातील नौका', 'किरवंत', 'बामनवाड', 'गांधी–अम्बेडकर' प्रमुख हैं। मराठी दलित नाटक की अब अपनी पहचान बन गई है। ये नाटक डॉ. अम्बेडकर के विचारों से प्रभावित हुए जीवन का कलाविष्कार हैं।

दलित रंगमंच के प्रथम शिल्पकार के रूप में श्रद्धेय किसन फागूजी बनसोडे जी का नाम गंभीरता पूर्वक आता है। आपने तमाशा शैली को अपनाकर दलित समाज प्रबोधन का कार्य किया है। 'सनातन धर्म का पंचरंगी तमाशा' आदि रचना द्वारा आपने नाटक माध्यमों द्वारा समाज शिक्षा का कार्य दृढ़निष्ठा से और सुचारू रूप से किया। बराड़ प्रांत में जानोजी नकुजी डोंगरे जी ने भी जलसा माध्यमों के द्वारा समाज प्रबोधन का कार्य किया है। इसी तमाशा शैली को और अधिक मुखरित किया केरुबुवा गायकवाड़ जी ने। 'गोमाजी कोतवाल' इस नाटक के द्वारा उन्होंने समाज का मार्ग दर्शन किया है। 'गधे की बरात' (गाढवाचे लग्न) द्वारा चित्रित किया हुआ यथार्थ और

सार रूप में भारत वर्ष की समाज व्यवस्था तथा यहाँ की संस्कृति का गंभीर आंकलन हरिभाऊ वडगकर जी ने प्रबुद्ध समाज को नाटक माध्यम द्वारा सहज में उपलब्ध कराया है। राष्ट्रपति पुरस्कार से सम्मानित दादू इंदरीकर दलित रंगमंच के प्रथम सम्मानित नाटककार हैं। श्रद्धेय अण्णाभाऊ साठे का नाम भी इस श्रेणी में आता है।

अण्णाभाऊ साठे अनेकों रूपों में पाठकों के सम्मुख उपस्थित होते हैं। आपने दलित साहित्य को उपन्यास, कथा–कहानी, कविता, तमाशा के द्वारा महत्वपूर्ण योगदान दिया है। आपने भरसक प्रयासों से दलितों में सांस्कृतिक विकास हो, यही उनका जीवन लक्ष्य रहा है।

> ''दुनिया बदल, मार हथोड़े की चोट, कह गये यह बात मुझे भीमराव...''

यह घोषणा साहित्य के प्रांगण में सर्व प्रथम अपने काव्य द्वारा अण्णाभाऊ साठे ने की थी। मराठी दलित नाटककार भि.सी. शिंदे के मतानुसार सत्यशोधक वालों ने जलसा शुरू किया था। मनोरंजन खत्म, लावणी खत्म। उसके स्थान पर बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर ने लोक शिक्षण जलसा शुरू किया। सोगड़ा अलग तरह के विनोद के लिए होता है। इसमें एक व्यक्ति स्वांग रचता है साथ ही वह अलग तरह से प्रबोधन भी करता है। भीमराव कर्डक हंसाते हुए सबक सिखाता है। पुणे के ही अनिल सपकाल का भी मानना है कि तमाशा केवल मनोरंजन के लिए नहीं है। उसमें संदेश भी है।

मराठी दलित नाट्य का हिन्दी मंच

सत्यदेव त्रिपाठी[20] लिखते हैं कि सबसे पहले 1990 के आसपास इप्टा, मुम्बई की प्रस्तुति में रत्नाकार मतकरी लिखित 'लोककथा–78' का ऐसा प्रभाव पड़ा था कि मैं उनसे मिलने का मोह–संवरण न कर पाकर दादर–पूर्व स्थित उनके घर चल पड़ा था। लगभग दो दर्जन पात्रों के रूप मे ंपूरा लोक ही मंच पर साकार हो उठा था। कोई सेट न था – जरूरत भी न थी। सारे पात्र आते–जाते, चलते–फिरते, बोलते–बतियाते, नाचते–गाते, अपने कामधाम करते–कराते सजीव

हो उठे थे। और इन्हीं सबके बीच से अनायास उभरती थीं उनकी त्रासदियां – शोषण व जुल्मोसितम के हृदयद्रावक दृश्य....और फिर कथा उसी तटस्थता से आगे बढ़ लेती थी। गोया कुछ हुआ ही न हो। इस तटस्थता में नाट्य की मांग तो थी ही, वह जीवन भी वैसे ही साकार हो उठा था, जिसमें हर अत्याचार के बाद फिर नये सिरे से जीना तो पड़ता ही है लोक को। अपनी कथन–गायन–करन शैली की उन्मुक्तता में अंत तक आते–आते नाटक ने यह प्रश्न बड़ी शिद्दत से उठाया था कि यह क्यों है और कब तक चलेगा?

मराठी के साहित्येतिहास में जयवंत दलवी के '*पुरुष*' का जिक्र भी दलित नाट्य के रूप में न जाने क्यों व कैसे हुआ। 'यात्री', मुम्बई का 'पुरुष' देखा था। दिल दहला देने वाला अनुभव था। फिर विजय मेहता की वह निर्मिति दुबारा हिन्दी में तब बनी, जब नाना पाटेकर स्टार हो गये थे। स्टार होने के पहले वे 1800 प्रस्तुतियां मराठी में कर चुके थे। हिन्दी में ज्यादा शोज़ न हो पाने का कारण तो नाना व आयशा जुल्का के स्टार्डम के बीच समय का अभाव ही रहा होगा, पर टाटा के बड़े हाल में लगभग आठ सौ दर्शकों के साथ जो अनुभव हुआ, वह पृथ्वी थियेटर से अलग तो था ही।[21]

तीसरे नंबर पर अचानक प्लेटफार्म शो के रूप में विजय दलवी का एकांकी '*मय्यत*' देखने में आता है। ताज्जुब है कि इस आलेख के लिए मराठी के साहित्य व नाट्येतिहास की कई पुस्तकें उलटते–पुलटते हुए इस नाटक का उल्लेख कहीं खोजे से भी नहीं मिला। उस वक्त भी कम ताज्जुब न हुआ था, जब पता चला था कि उषा गांगुली कलकत्ते से आकर यह लगभग 45 मिनट का शो हाल से बाहर करेंगी – और वह भी मुफ्त। यानि बिना कुछ लिए–दिए। लेकिन देखने के बाद समझ में आया कि ऐसी प्रस्तुतियाँ किन्हीं दुनियादारियां की मोहताज नहीं हो सकती। खैर, यह 'मय्यत' एक दलित की कहानी है, जो महाराष्ट्र की एक सामाजिक प्रथा के चलते एक दिन के लिए ब्राह्मण हुआ था। (पता नहीं यह प्रथा कहीं है भी या नहीं...।) उसे 'खलदेवता' कहते हैं शायद। मृत लक्खू की एकमात्र लालसा थी कि एक बार वह ब्राह्मण बन जाये – शायद इसलिए कि उस दिन उसे वे सारे सुख, सारी सुविधाएं मिलती हैं,

जो किसी ब्राह्मण को मिलती है। और यह लालसा तब पूरी हुई, जब वह एकदम मरणासन्न हो चुका था। और ऐन उसी दिन मर भी जाता है। अब उसकी 'मय्यत' का अंतिम संस्कार करने के लिए ब्राह्मण तैयार नहीं और दलितों ने एकजुट होकर फैसला कर लिया है कि यह क्रिया ब्राह्मणों को ही सम्पन्न करनी होगी, क्योंकि जिस दिन वह मरा, ब्राह्मण था।

अनामिका हक्सर के निर्देशन में एन.एस.डी. के तृतीय वर्ष के छात्रों के साथ तैयार की गई प्रस्तुति – '*उचक्का*' लक्ष्मण गायकवाड़ की आत्मकथा 'उचल्या' का नाट्य रूपांतर है। इसी के मर्म में छिपी है इस की निर्मिति। पूरे समय लग रहा था कि असंभव की साधना की जा रही है। लेकिन फुरसत से मिली प्रशिक्षित टीम। मंजी हुई निर्देशक। मनचाहा संसाधन। सब मिलाकर असंभव के संभव होने जैसा असर पैदा हो गया। प्रयोग को अवश्य 'विरल' व 'मील का पत्थर'...आदि कहा जायेगा। है भी, पर तमाम प्रयोग – दृश्य अपनी विरल कल्पनाशीलता में अबूझ हो जाते हैं। आत्मकथा के नाट्य में आने की कठिनाई के चलते नाट्य शैलियां खिंची–तनी हैं और उचल्या की थीम कसमसाई है। जेब उड़ाने की थीम मूल में है। वही जाति है, नाम है। मराठी और हिन्दी दलित नाटकों के संदर्भ में विजय तेंडुलकर अपने समूचे चिंतन के साथ आते हैं। दलित साहित्य की अवधारणा में एक स्थापित नाटककार के रूप में उन्हें आना चाहिए, या नहीं, यह बहस का विषय है। यह बहस दलित और गैर दलित लेखकों, समीक्षकों तथा नाटककारों के बीच लंबे समय से है।

तेंडुलकर का मानवीय सम्बन्धों के तीखे सच का चित्रण और अतार्किक नैतिक व्यवस्था की समालोचना ने एक नये जन–अत्याचार का सृजन किया। उन पर सनसनी खेज अश्लीलता और हिंसा का प्रचार करने का आरोप लगाया गया। अगला नाटक सखाराम बाइंडर (1972) और अधिक विवादास्पद बना, क्योंकि इसकी भाषा को आक्रामक माना गया तथा समाज के नैतिक मूल्यों का पूर्ण तिरस्कार करने वाला समझा गया। सखाराम का बर्बर स्वरूप तथा उसके सेक्स संबंधी चित्रण से राज्य सरकार ने इसके मंचन–प्रदर्शन पर पाबंदी लगा दी। 'घासीराम कोतवाल' (1973) को लेकर जन–आन्दोलन का

तांता लग गया। जो एक संगीतमय ऐतिहासिक चित्रण, पुणे में पेशवा शासन के खिलाफ है और ब्राह्मणों को रूढ़िवादिता के किले पर प्रहार है। मराठी के पारंपरिक लोक नाट्य मंच यानी भजन, आदि का अलग तरह से संयोजन करके इसमें नाटकीयता लाई गई और नाना फड़नवीस का शोषण और घासीराम कोतवाल का उत्थान–पतन दर्शाया गया। इस नाटक के संस्कृति और काल की सीमाओं को तोड़कर सामाजिक संरचना के सर्वजनीय उदाहरण को प्रस्तुत करने का प्रयास किया। इसे अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति मिली।[22]

विजय तेंडुलकर के सृजन का एक और क्षेत्र भी है। वह है सिनेमा की दुनिया। उनकी कुछ प्रसिद्ध पटकथाएं हैं – निशांत (1977 जिसमें ग्रामीण जमींदार पर जबर्दस्त हमला किया गया है), मंथन (1977 जिसमें छोटे कस्बों में कोऑपरेटिव का चित्रण है), सामना (1975) और सिंहासन (1979 जिसमें राजनीति पर करारा व्यंग्य है), आक्रोश (1980), अर्ध सत्य (1983) जिसमें एक संवेदनशील पुलिसकर्मी का नितांत अकेला होना और उसकी कदाचार के खिलाफ अंग को दर्शाया गया है। इनमें से अधिकांश फिल्मों ने राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय फिल्म पुरस्कार प्राप्त किये हैं। इस प्रकार तेंडुलकर एक 'सेमिमल राइटर' के रूप में उभर कर सामने आये।

तेंडुलकर 1970 से 84 तक नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा के उपाध्यक्ष और 1986 में आकाशवाणी और दूरदर्शन में प्रोड्यूसर जैसे प्रतिष्ठापूर्ण पदों पर रहे। उन्हें कई पुरस्कार और सम्मान भी मिले। जैसे उन्हें समाज में हिंसा के पनपने के तरीके और समकालीन रंगमंच की अनुरूपता के अध्ययन के लिए जवाहर लाल नेहरू फेलोशिप मिली। उन्हें पद्मविभूषण (1984), कालिदास सम्मान (1991) और जन स्थान पुरस्कार (1991) मिला। इतना ही नहीं, तेंडुलकर को महाराष्ट्र राज्य सरकार का 9 बार पुरस्कार मिल चुका है।

उनके कुछ नाटकों में कमला (1982) सफर और नियतिच्या बैलाला (1991), कन्यादान (1983) हैं। इन नाटकों ने उन्हें नाटकविद् के विकास में स्तंभ बना दिया है। नाटक एक सामाजिक–राजनीतिक यथार्थ है। जाति और उसकी राजनीति हमारे सामाजिक–राजनीतिक इतिहास के गढ़ने में एक भूमिका निभाती है जिसकी प्रतिध्वनि

पीढ़ियों तक गूंजती रहती है। स्वर्ण समीक्षकों की माने तो कन्यादान में तेंडुलकर ने तथाकथित दलितों का मुखौटा नोच डाला है, जो जाति को जीत वाले पत्ते के रूप में इस्तेमाल कर रहे हैं और छद्यम् तथा स्वहितों का वही पुराना खेल खेल रहे हैं। उन्होंने कुछ ऐसे सवाल उठाये हैं जिनमें दलित आन्दोलन का उद्देश्य और तरीकों पर सोचने का आह्वान है और समाज के सवर्ण अवर्ण के बीच तनावपूर्ण सम्बन्धों पर विचार करने के लिए कहा गया है।[23]

यह नाटक सुखी ब्राह्मण परिवार के चार सदस्यों को केन्द्र में रखकर लिखा गया है। नाथ और सेवा दम्पत्ति सामाजिक कार्यकर्ता हैं और अपने बच्चों ज्योति तथा जयप्रकाश के अच्छे मित्र हैं। ज्योति की अपने दलित कवि–मित्र के साथ विवाह करने की घोषणा से नाथ अति प्रसन्न होता है और उसे इसमें अपने विचारों की नैतिक विजय दिखाई देती है। सेवा, चूंकि पूरी तरह दुनियादार और बुद्धि मान है, इसलिए उसके उत्साह में साथ नहीं देती। इतना ही नहीं वह ज्योति से कई सवाल भी करती है ताकि वह वास्तविकता समझे। यूं ज्योति प्रेम मग्न है, पर वह जातियता के पूर्वाग्रह तथा अरुण के मन में विद्यमान अस्वस्थ कुंठाओं से नावाकिफ नहीं है जो भविष्य में समस्या पैदा कर सकती है। जैसे ही साथ रही उसके पता चला कि उसके घिनौने भय सच हो गये हैं। अरुण उसके साथ निर्दयता–पूर्ण बर्ताव करता है और मौखिक और शारीरिक रूप से भी प्रताड़ित करता है। इसके साथ ही वह ज्योति की तकलीफों का ध्यान नहीं रखकर निर्दयतापूर्ण आनन्द प्राप्त करता है। ज्योति उसकी विक्षिप्त मनोदशा को साहस से सहती है और अच्छे भविष्य की आशा करती है। यहाँ तक वह उसके साथ दासी जैसी हालत में रहती है। वहीं, अरुण पशुवत आचरण करता है। इसके सबके बावजूद वह एक आत्मकथा लिखता है जो पूरी तरह आडम्बरपूर्ण और उसके जीवन की सच्चाई से बहुत दूर है। नाथ अपनी बेटी के हित में सत्य को बलिदान करके उस पुस्तक पर एक भाषण देता है और भावुकतावश भय–दोहित (ब्लैकमेल) होता है। ज्योति और उसके सम्बन्ध टूट जाते हैं। लेकिन, इस घटना ने ज्योति के लिए भी कुछ किया। वह मलवे से एक अद्भुत व्यक्ति के रूप में उभर कर ऊपर आती है

अपने जीवन को अपने हाथों से लेती है।

नाटक में हर तरफ तनाव पनप रहा है और इसके शमन का कोई तरीका नहीं है। इसकी पृष्ठभूमि में आलंकारिक निन्दनीय कथनों, दुखःद स्थितियों का बार–बार होना, शारीरिक और मानसिक यातना देकर खुश होना, नैतिक मूल्यों के लोप होने का चित्रण हैं। ये तत्व सामाजिक दिखावों के जरिये छिपाये गये सत्य को उद्घाटित करते हैं। नाटक का उद्देश्य दर्शकों की सामाजिक परिस्थितियों तथा विरासत में मिले व्यवहार–पद्धति को झकझोरता है। इस नाटक का उद्देश्य एक तरफ उदासीन और ग्रहण लगे दलित आन्दोलन का बौद्धिक रूप से ग्लैमर खत्म करता है और दूसरी तरफ स्वतंत्र सोच वाले अयथार्थ, अदूरदर्शतापूर्ण सामाजिक–समस्या का ग्रहण करने योग्य मानवीय मूल्यों के प्रति गहरी चिन्ता, सामाजिक परिवर्तन की गति का प्रभावी प्रस्तुतिकरण, सुन्दर संवाद और सम्पूर्ण रूप से गढ़ा गया शिल्प है। इसलिए यह आधुनिक भारतीय नाटक प्रदीप्त उदाहरण के रूप में स्वीकार हुआ है।[24]

नागपुर के दलित रंगकर्मी संजय जीवने[25] के विचार में – प्रस्थापित सनातनी नाटकों की परम्परा ने, दलित नायक को, उसके जीवन संघर्ष को कभी नायकत्व नहीं दिया। कुछ प्रगतिशील नाटककारों ने प्रयास किया वह दलित जीवन को समझ नहीं पाये, तो उसके संघर्ष, उत्थान, परिवर्तन की बात वह कैसे रख पाते? सिर्फ दलित जीवन को दर्शाना, लेखक की जिम्मेदारी नहीं है, इससे आप सिर्फ उसके चरित्र पर उंगली उठा सकते हैं, उसके प्रति सहानुभूमि भी दर्शा सकते हैं, पर वह उसके प्रति न्याय नहीं।

प्रगतिशील नाटककार का ह्रदय लोक ह्रदय है। वह लोक चित्तवृत्तियों को समझ सकता है, पर फिर भी जाने–अनजाने उसके संस्कार आड़े आते हैं, इस यथार्थ को झुठला नहीं सकते। इसका मतलब दलित नाटककार ही दलित नाटक लिख सकते हैं, अन्य नहीं, ऐसा कहना उचित नहीं है, कोई भी दलित नाटक लिख सकता है। बल्कि संवेदना और साहित्यिक अनुभव के धरातल पर और भी बढ़िया लिख सकते हैं, फिर उसे वह नाटककार दलित नाटक कहे या ना कहे, वह मानवतावादी नाटक जरूर हो जाता है। चूंकि

दलित नाटक का केंद्र बिन्दु भी मानवता ही है, पर उपहास देखिए की जब दलित नाटककार लिखता है तो उसे जातिवादी कहा जाता है जबकि किसी गैर दलित के दलित विषय पर लिखने से वही प्रगतिशील हो जाता है। हमारी लड़ाई भारतेंदु के बनियां या प्रेमचंद के कायस्थ होने से नहीं है, ना ही तेंडुलकर, जी.पी. देशपांडे या जयवंत दलवी के ब्राह्मण होने से है। यह तो तत्वों की लड़ाई है, जिन तत्वों पर सनातनत्व खड़ा है। उन तत्वों को परास्त करने की लड़ाई है उन्हें अपने तत्वों का (परिवर्तनवादी, समतामूलक) बनाने की लड़ाई है। यह कोई अभिजात्य बौद्धिक बहसों की केचुआं लड़ाई नहीं है।

विजय तेंडुलकर का मराठी भाषा में चर्चित नाटक *कन्यादान* दलित नायक को केंद्रीय पात्र के रूप में चर्चित करता है, वास्तव में उस नाटक में दलित नायक का चरित्र हनन है। तेंडुलकर इस नाटक में बताना चाहते हैं कि दलित युवक चाहे कितना भी पढ़ा लिखा हो, वह अन्यायी होता है, वह व्यभिचारी होता है, शराबी होता है, गंदा होता है, जातिवादी होता है, झगड़ालू होता है, यहीं दलितों का चरित्र है, ऐसा ही बयान यह नाटक देता है और इस बात की पुष्टि उन्होंने सखाराम बाईंडर में भी की है, जबकि *सखाराम बाईंडर* ब्राह्मण है यह कला विकृतियाँ संवेदना के नाम पर प्रगतिशीलता के आड़ में अपनी नपुंसकता ही सिद्ध करती है इनमें अभिजात्यता होने के बावजूद कोई सृजनात्मकता नहीं, यही दलित नाटककार और गैर दलित नाटककार में सूक्ष्म भेद है। *पुरुष* नाटक में भी दलितों को लाचार ही बताया गया है तथा जयवंत दलवी के *सूर्यास्त* में भी यही हाल है, हां कुछ हद तक बैरिस्टर सकारात्मक है। अगर वैश्विकता के दायरे में दलित रंगमंच का किसी से रिश्ता जोड़ा जा सकता है तो नीग्रो लोगों के ब्लैक थिएटर से, क्योंकि दोनों का नाता विद्रोह से है।

नाटककार विजय तेंडुलकर की दलित चेतना

ध्यातव्य है कि मराठी दलित नाट्य के इस समूचे इतिहास में विजय तेंडुलकर का नाम प्रायः नहीं है। 'प्रायः' का प्रयोग इसलिए कि

किसी–किसी ने क्वचित् 'कन्यादान' का नाम भर ले लिया है। बल्कि इससे अधिक चर्चा तो गोविंद पुरूषोत्तम देशपांडे के 'उध्वस्त धर्म शाला' और इस पीढ़ी के जयवंत दलवी लिखित 'पुरुष' की मिलती है, जो प्रायः दलित चेतना का नाटक है ही नहीं। और वह भी सच है कि तेंडुलकर का 'कन्यादान' ही एक नाटक है, जिसकी थीम में दलित–जीवन है। यूँ उसमें भी कथ्य की आखिरी तान टूटती है – सवर्ण पात्र ज्योति के दलित में वर्गांतरण पर और कहानी का मूल आधार भी ज्योति का ब्राह्मण परिवार हैं, लेकिन उस परिवार व कहानी का सारा दारोमदार है अरुण आठवले नामक दलित युवक पर, जिससे वह प्रेम–विवाह करती है ज्योति और उसके सुधारवादी विचारों वाले पिता नाथ देवलालीकर सहर्ष उसका साथ देते हैं, प्रोत्साहन देते हैं। बावजूद पत्नी व बेटे के मुखर विरोध के। लेकिन शादी के बाद अरुण रातों को शराब पीकर ज्योति को पीटता है और उसका मुख्य कारण बनता है – ज्योति का ब्राह्मण होना। उस वक्त ज्योति उसे समूचे उच्चवर्ग की प्रतिनिधि लगती है और दलित वर्ग के प्रतिनिधि के रूप में अरुण गोया समूचे उच्च–वर्ग से बदला लेता है। सदियों से सताया हुआ उसका जातीय आक्रोश फट पड़ता है।

इस प्रकार नाटक में अरुण आठवले 'विलेन' बनकर उभरता है, जिसे लेकर तेंडुलकर की काफी आलोचना भी हुई और 'कन्यादान' को दलित नाटक तो किसी तरह मान भी लिया गया, पर नाटककार को दलित–विरोधी करार दिया जाने लगा। परन्तु ऐसा नहीं है। आखिर जिस वर्ग को हजारों साल से पीड़ित–प्रताड़ित–वंचित किया गया है, उसके मन में गुस्से का होना एक हकीकत है। क्यों नही होगा? होना ही चाहिए। होना ही स्वाभाविक है। न होना तो आरोपित होता। या फिर आदर्श होता, पर सच्चाई से दूर होता। तेंडुलकरजी ने हिम्मत से यह सच कहा।

फिर गुस्सा होना यदि हकीकत है, तो उसका बाहर निकलना स्वाभाविक हैं। न निकलता, तो अरुण का पात्र रोगी होता। वह मनोवैज्ञानिक बन पड़ा है। मनोवैज्ञानिक होना रचना की गहनता है। यथार्थ को दिखाने का कलात्मक सलीका है लेखकीय सिफ्त यह है कि सचाई का आक्रोश बनकर गुस्से में फट पड़ना नशे में होता है –

रातों को। याने जब चेतन मन–मस्तिष्क निष्क्रिय व अचेतन सक्रिय रहता है। स्थिति यह कि जातीय दंश अनजाने ही उस वर्ग के भीतर पैठ गया है। यह गहराई है इस बड़े सच को उकेरने की। और दंश का कमाल यह कि अरुण यह भी नहीं देखता कि ज्योति के पेट का बच्चा तो उसका अपना है। क्योंकि उस दौरान वह आपे में नहीं होता। आपे को यूँ खो देने जैसी त्रासदी है यह दलित–जीवन की। मेरा ख्याल है आप भी मुझसे सहमत होंगे कि यह ज्यादा सशक्त तरीका है उस दंश को कहने का बनिस्बत उसके कि एक–एक घटना का बयान किया जाये।

इससे आगे चलें...दलित विषयक प्रस्तुति में नाट्य–कला का दूसरा उल्लेखनीय आयाम यह कि जागते हुए चेतन अवस्था में अरुण बेहद प्यार करता है उसी ज्योति को, जिसे नशे में पीटता है। नाराज होकर मायके चले जाने पर उतना ही दीन–हीन होकर वह उससे माफी मांगता है, गिड़गिड़ाता है, जिसमें नाटकीयता से इंकार नहीं किया जा सकता, जो तेंडुलकर जी की नाट्य–कला का एक आयाम है परंतु इस बावत पुनः कोई दुनियादार आदमी कह सकता है कि सवर्ण लेखक जानबूझकर दलित को सवर्ण के सामने झुका रहा है। हमें मराठी के समीक्षा जगत का उतना पता नहीं है, शायद यह कहा भी गया हो। पर यह प्रेम व मानुष भाव उसमें है, जिसका एक बड़ा कारण उसके पढ़े–लिखे होने में है। और उस वर्ग का पढ़ना–लिखना सत्तर के दशक का यथार्थ है, जो नाटक में उतना ही कारगर होकर उभरा है। पढ़े–लिखे होने के कारण ही उसे ज्योति मिलती है, वरना दलित युवक की पहुँच उस कुलीन कन्या तक भला कहाँ होती?

लेकिन अचेतन–चेतन, दिन–रात, बाहोश–बेहोश का यह अंतर्विरोध अरुण का निजी नहीं है। इस समाज–व्यवस्था का उसे दिया हुआ है। एक–दूसरे के विरोधी दिखते हुए ये दोनों रूप एक ही आदमी के हैं, जो जन्मना व जीवन से दलित होने की दुर्दशा का शिकार रहा है और जो पढ़–लिख लेने से अब परिष्कृत जन जैसा होना चाहता है। इस सत्य को समझने में ज्योति को थोड़े दिन लगते हैं। और समझ जाने पर उसे अरुण की लातों की मार का मर्म वैसे ही समझ में

आने लगता है। जैसे उसकी कवितायें। बल्कि यह कि नशे में उन्मत सिंह अरुण को समझे बिना कवि अरुण को नहीं समझा जा सकता। और इसके लिए उसे महारन बनना पड़ता है। महारन बनने के लिए देवलालीकर का घर ही नहीं, नाम व पहचान तक छोड़नी पड़ती है। वह अंतिम दृश्य में पिता से प्रतिवाद करते हुए कहती है – 'अता मी ज्योति नाथ देवलालीकर नाहीं, मी ज्योति अरुण आठवले आहोत महारन'। यही वर्गातरण है 'कन्यादान' का सबसे अच्छा आयाम, जिसके बिना एक ब्राह्मणी समझ ही नहीं सकती थी एक दलित को। जैसे उसके पिता नहीं समझ पाते। उन्हें सुधारवाद के भावावेश में मात्र ज्ञान मिला था, अनुभव नहीं। दलितोत्थान का सिद्धांत मिला था, उसके व्यवहारिक पक्ष का उन्हें पता न था। इसलिए उसी अंतिम दृश्य के प्रतिवाद में ज्योति ने पिता से यह भी कहा कि व्यावहारिक ज्ञान पाने के लिए उसे अरुण आठवले के पास जाना पड़ा।

इसी मुकाम पर आकर दलित–जीवन के कटु तथ्यों के समक्ष उस थोथी सुधारवादी सोच व समूची सवर्ण मानसिकता का अच्छेदन हो जाता हैं और यही है 'कन्यादान' का मर्मांतक मर्म। ध्यान से देखें, तो यही है तेंडुलकरजी के सोच का मर्म, उनकी वैचारिकता की प्रमुख धारा–मेनस्ट्रीम, जिसमें सवर्णों के सभी छद्मों का उच्छेदन करना नाटककार तेंडुलकर की एक मुख्य प्रवृत्ति है, जो अपने अंतिम चरण में सामंतवाद की आलोचना बन जाती है। उच्चवर्ग का चित्रण तेंडुलकर की रचना–प्रक्रिया में पिछड़े वर्ग की स्थितियों को दिखाने का एक प्रबल माध्यम बन कर आता है जैसे नाथ देवलालीकर परिवार बन जाता है अरुण के जीवन का आईना। आप देखते हैं नाथजी का घर परिवार...। वही सेट है नाटक का। उस पर अरुण सिर्फ तीन बार आता है, पर तीन ही प्रवेश (एंट्री) में पूरे नाटक पर छा जाता है। यह छा जाना भी तेंडुलकर जी की रचनात्मकता का विचारणीय पहलू है। 'श्रीमंत' में श्रीधर छा जाता है, पर मंच पर मौजूदगी उसकी भी अपेक्षाकृत कम ही है और जीवन वहां भी दादा व मालिनी का है। कमला छा भले नहीं जाती, पर वहां भी जीवन जयसिंग व सरिता का है, जो खुलता है। कमला के जरिए। ऐसे ही और भी...। दादा और जयसिंग अभिजात वर्ग के हैं। दोनों ही

इस्तेमाल करना चाहते हैं क्रमशः श्रीधर व कमला का। पर अंततः उघड़ता है उनका पाखण्ड, फायदा उठाने की वृत्ति नाथ देवलालीकर के सुधारवाद की तरह। यही तेन्डुलकर जी का मंतव्य होता है और ऐसा ही तरीका...।

लेखक का आगे पक्ष यह कि दादा को भी नसीहत मिलती है कि जयसिंग को भी। जयसिंग के खिलाफ कमला कुछ नहीं करती। वह एक आदिवासी है। दलित–दमित है। पुरुष तथा प्रभुसत्ता के जबड़े में फँसी है। उसकी बेबसी इतनी यंत्रवत हो चुकी है कि उसे बेबसी लगती ही नहीं। अपना खरीदकर आना उसे क्या खलेगा, जब वह स्त्री जाति के लिए कोई और रास्ता जानती ही नहीं। इस हद तक निरीह बना देने वाले समाज के कोढ़ को सामने लाने के लिए राजधानी का इतना बड़ा पत्रकार उसी कोढ़ का खाज बनाता हैं खरीदता है और फटे कपड़ों में सबके सामने प्रेस–कान्फ्रेंस के दौरान उसकी भद्द उड़वाता है – उस नादान को तो मालूम तक नहीं कि हो क्या रहा है।लेकिन राजसिंग की राजनीति उसी को ले डूबती है, क्योंकि खरीद–फरोख्त का पेशा करने वाला वर्ग, जिसे जयसिंग उघाड़ना चाहता था, उसका भी बाप है। इस तरह कमला के माध्यम से अभिजात समाज ही नंगा होता है।

कहना न होगा कि दलित जीवन पर नाटक तो सवर्णों ने भी लिखे लेकिन एक खास दृष्टि के तहत। उनकी दृष्टि दलित अस्मिता पर कभी–कभी वार करती रही। हालांकि उन्होंने प्रयास किये, लेकिन कुछ जरूरी बिंदू उनसे छूटते गये।

बंबई, नागपुर, नासिक, चन्द्रपुर, औरंगाबाद, कोल्हापुर, शोलापुर और पुणे मराठी दलित नाटकों के केन्द्र रहे। पुणे में 1969 में दलित रंगभूमि की स्थापना हुई। पहली प्रस्तुति हुई कालोखाच्या गर्भात की। बकौल शिंदे मुझसे पूर्व नासिक के के. एस. शायर जलसाकार थे। पुणे में ही शिल्पा मुंब्रीसकर, रामनाथ चव्हाण, टेक्सास गायकवाड़ आदि अन्य नाट्यकार भी रहे। 1984 से तेजी के साथ रंगमंच की शुरूआत हुई। पुणे में नाट्य सम्मेलन भी शुरू हुआ। आरंभ के दिनों में मैं (शिदे जी) गांव–गांव जाता था। वहां तमासगीन कलावंत मिलते थे। इस तरह बात आगे बढ़ी।

संदर्भ

1. संजय नवले, दलित साहित्य, अपेक्षा, अप्रैल–जून 2004, पृ. 19।
2. बबन भाग्यवंत, दलित रंगभूमि आणि नाटक, चिन्मय प्रकाशन, औरंगाबाद, 2008, पृ. 20।
3. भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला में पढ़े गये शोध पत्र से।
4. दलित रंगभूमि आणि नाटक, चिन्मय प्रकाशन, औरंगाबाद, 2008, पृ. 22।
5. डॉ. कृष्णा किरवले की कृति आंबेडकरी शाहिरी : एक शोध की प्रस्तावना से।
6. दलित रंगभूमि आणि नाटक, पृ. 39।
7. आंबेडकरी शाहिरी : एक शोध की प्रस्तावना से, पृ. 2।
8. वही, पृ. 51।
9. प्रदीप (काव्य संग्रह) – किसान फागू बनसोडे, पृ. 14।
10. वही, पृ. 39।
11. वही, पृ. 64।
12. वही, पृ. 113।
13. वही, पृ. 205।
14. वही, पृ. 211।
15. नाटक झाले जन्माचे – (लेख) दादा साहेब रूपवते, दूसरे अखिल भारतीय नाट्य सम्मेलन, अहमदनगर, 24 से 27 मई 1985, विशेषांक, पृ. 9।
16. डॉ. भगवान ठाकुर, आंबेडकरी जलसे, सुगांवा प्रकाशन 562 सदाशिव पेठ, पुणे, 2005, पृ. 33।
17. महाराष्ट्र के वरिष्ठ दलित नाटककार भि. सी. शिंदे से पुणे स्थित उनके निवास पर बातचीत के आधार पर।
18. दलित कथाकार एवं नाटककार टेक्सास गायकवाड़ से पुणे स्थित पुणे विश्वविद्यालय के गैस्ट हाऊस में बातचीत के आधार पर।
19. दलित नाटककार एवं अण्णा भाऊ साठे विद्यापीठ के चेयरमेन रामनाथ चव्हाण से पुणे स्थित उनके कार्यालय में बातचीत के आधार पर।
20. भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, राष्ट्रपति निवास, शिमला में 25–26 सितम्बर 2008 को आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी में मुंबई से आये सत्यदेव त्रिपाठी के शोध–पत्र से, पृ. 3।
21. वही, पृ. 4।
22. वही, पृ. 5।
23. वही, पृ. 6।
24. वही, पृ. 7।
25. नागपुर से आये प्रसिद्ध दलित रंगकर्मी सजय जीवने के शोध–पत्र से।

दलित रंगमंच के विकास में योगदान

मराठी दलित रंगमंच के विकास में योगदान करने वाले रंगकर्मियों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है (1) स्वयं दलित वर्ग के रंगकर्मी और (2) दलितेतर वर्गों के रंगकर्मी। प्रथम वर्ग में खुद वह दलित समाज है, जिसने मराठी दलित रंगभूमि के उन्नयन में योगदान किया है। इसमें दलित समाज में पैदा होने वाले वे सब भुक्तभोगी आते हैं, जिन्होंने स्वयं अपने और अपने समाज के दुख–दर्द को रंगमंच से जोड़ दिया। पैदाईशी दलित समाज के लेखकों, समीक्षक तथा नाटककार के रूप में योगदान करने वालों में गंगाधर पानतावणे (उनके नाटकों में माणुसकीचे बंड, मृत्युशाला और मूकनायक), भि.शि शिंदे (काळोख्याच्या गर्भात, भिक्षुणी वासवदत्ता, पल्लवी, भूमिपुत्र) योगीराज वाघमारे (आज जे घडलेचि नाही), प्रभाकर दुपारे (साता समुद्रा पलिकडे) (एकांकी संग्रह), अदृश्य नाटक, कलिंग विजय, रमाई, विदूषक, उत्सव, अनेक पथ–नाट्य तथा जयक्रांति), रामनाथ चव्हाण (बामनवाडा, साक्षीपुरम, बायको मी देवाची (एकांकी), टेक्सास गायकवाड़ (आम्ही देशाचे मारेकरी, मन्वंतर, रंग आंधळे, प्रबुद्ध जलसे), दत्ता भगत (खेळीया, वाटा पळवाटा, अश्मक, जहाज फुटले आहे), संजय पवार (कोण म्हणतो टक्का दिला, ऐन आषाढात पंढरपुरात), लक्ष्मण माने (प्रकाश पुत्र), बाजीराव रामटेके (इथे माणसाला स्थान नाही), अमर रामटेके (कॉमरेड जोशी, तिच्या हाती फाशीची दोरी), अशोक हंडोरे (लंगर), प्रेमानंद गज्वी (किरवंत), संजय जीवने (पैदागीर, सिद्धार्थ गौतम, सूर्योदय, जयभीम) कमलाकर डहाट (नरबळली, हत्याकांड), जॉन मेश्राम (बेंडवा, बुद्धं शरण गच्छामि, टेंभ्याची वरात, आग्या वेताळ,

दे दान, सुटे गिरान, भरते रे मैना झुरते रे राघो), श्रीरंग सुर्वे (वांझ ढगाच्या नावे), मुक्ता मनोहर (21 व्या शतकाकडे) और रंगनाथ डोळस (सावली सूर्यप्रकाशाची, धुकं अजुनी गडद आहे, रूपेरी किनार, फिते चक्र आयुष्याचे, जातक कथा 2003) आदि का प्रदेय उत्साह वर्द्धक है और प्रशंसनीय भी।[1]

मराठी दलित रंगभूमि के विकास में युवा आदिवासी लेखकों का योगदान भी भुलाया नहीं जा सकता। इनके नाट्य लेखन के मूल में भी प्रबोधन एवं परिवर्तनवादी चेतना आधारभूत है, जो आंबेडकरवादी विचारों से प्रेरित है और प्रतिबद्ध भी। अतः दलित रंगभूमि के विकास में इनका योगदान प्रशंसनीय मानना होगा। इस क्षेत्र में प्रभाकर शेलमार्के (वणसूर्य), भुजंग मेश्राम (आवातान) और जॉनी मेश्राम आदि नामों का उल्लेख अनिवार्य हो जाता है। इन्होंने अत्यंत संवेदना के साथ लेखन कर दलित रंगभूमि को समृद्ध करने में अहम् भूमिका अदा की है।

मराठी रंगभूमि के विकास में योगदान करने वाला दूसरा वर्ग है सवर्ण रंगकर्मियों का। सामाजिक सुधार और दलित समाज के उद्ध ार की तहेदिल से कामना करने वाले सवर्ण रंगकर्मियों का महत्व भी नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। ऐसे रंगकर्मियों में म. भि. चिटणीस (युगयात्रा, जिवंत झाल्या सावल्या), भालचंद्र फडके (दलित रंगमंच (संपादन), गो, पु. देशपांडे, विभा देशपांडे, सुरेश पाध्ये तथा डॉ, मिरासी दौंड आदि ने यथा समय दलित रंगभूमि की उन्नति में अपनी ओर से सक्रिय सहयोग प्रदान किया है।

नाट्येतर मराठी दलित रंगमंच

मराठी नाटक क्षेत्र में दलित रंगमंच ने अपनी जड़ें अब अवश्य जमा ली हैं। लेकिन दलित रंगमंच का आक्रमण सब से ज्यादा नाट्येतर क्षेत्र में होता रहा है। अतः कहना सही होगा कि नाटक से पहले नाट्येतर क्षेत्रों ने दलित को अच्छा–खासा 'एक्सपोजर' दिया। उनमें अनेक ऐसे साधन हैं जो दलितों को रंगभूमि प्रदान करते रहे हैं, उनको आत्माविष्कार का अवसर प्रदान करते आए हैं, अभिनय का अवसर प्रदान करते आए हैं। परंतु अंतर यह कि जहाँ नाटक संबंधी

दलित रंगमंच ने दलितों के प्रबोधन, जागरण और सदियों से हो रहे दमन तथा शोषण के विरोध का उद्घाटन किया वहां नाट्येतर दलित रंगमंच ने दलितों को जीविकोपार्जन का साधन प्रदान किया। नाट्येतर दलित रंगभूमि का प्रधान स्वर रंजन प्रधान तो नाटक संबंधी दलित रंगभूमि का प्रधान स्वर प्रबोधन प्रधान भी रहा है। अतः नाट्येतर मराठी दलित रंगमंच के महत्व से इंकार नहीं किया जा सकता। इनमें मुख्यतः तमाशा, जलसा, भारूड, शायरी, गोंधळ, वासुदेव, पोतराज, वाध्या मुरळी जागरण, कलगी तुरा, बहुरूपी, कड़क लक्ष्मी, नंदी बैल, धनगरी ओव्य तथा गजनृत्य आदि प्रकार रंगभूमि से ही संबंधित हैं और नाटक संबंधी रंगभूमि से बहुत पहले प्रचलित मिलते हैं।[2]

इन सब में प्रायः दलित जातियों के लोग अपनी कला का प्रदर्शन करते रहे हैं। वे उसे अपनी रोजी के साधन स्वरूप ही अपनाते हुए मिलते हैं। इनमें महार, मातंग, बनजारा, गोंधळी, धनगर, नंदीवाले, बहुरूपी और अन्य कई दलित पिछड़ी जातियों के लोग शरीक मिलते हैं। इनमें से कुछ में स्त्रियों का सहभाग भी मिलता है, किंतु एकाध अपवाद छोड़ दें तो अधिकतर स्त्रियाँ दलित समाज की हुआ करती हैं। इनमें देवदासी, मुरळी, कोल्हाटीन आदि का सहभाग कुछ ज्यादा ही रहा। उत्तम कांबले के अनुसार महाराष्ट्र का प्रश्न बहुत गंभीर रहा है। अंधविश्वास के कारण दलित परिवार इस परम्परा का शिकार होते हैं।[3] तमाशा जैसे लोक रंगभूमि के साधन में शुरू से स्त्रियों की भूमिकाएँ पुरुष ही निभाया करते थे। किंतु जीविका अर्जन के साधन के रूप में लोकरंगभूमि के साथ निम्नवर्गीय महिलाओं का सहभाग बढ़ता ही गया। जलसे में संगीत और नृत्य का दायित्व स्त्रियों को ही वहन करना पड़ता है। इसके अलावा खंडोबा नामक देवता की भक्तिन के रूप में जो स्त्री होती है उसका सहभाग 'वाध्या मुरळी जागरण' में हुआ करता है। कड़क लक्ष्मी में नारी वाद्य बजाती हुई मिलती है, जिसके ताल पर उसका पति नृत्य करता रहता है। लोकरंगभूमि के शेष प्रकार यथा – शायरी, बहुरूपी, गोंधळ, नंदीबैल, पोतराज, धनगरी गजनृत्य आदि में पुरुषों का ही सहभाग हुआ करता है।

ये सारी कलाएँ लोक कला और लोक रंगभूमि के अंतर्गत आती हैं, जिनका प्रधान प्रयोजन उदर निर्वाह के साधन के रूप में ही परिलक्षित होता है। प्रबोधन या चेतना जागृति को इसमें कोई स्थान दिखाई नहीं देता। लेकिन मराठी दलित रंगभूमि के विकास को नाट्येतर दलित रंगभूमि ने पर्याप्त उर्वर जमीन प्रदान की, इसे भूलना नहीं चाहिए।

दलित रंगमंच की यह मान्यता है कि सर्वहारा को दुख–दर्द से निजात देनी चाहिए। दलितों के चेहरे पर मुस्कान लाना दलित रंगमंच की प्रधान प्रवृत्ति है। इस मुस्कान को छीनने वालों की भर्त्सना करने में भी अब दलित रंगमंच पीछे नहीं दिखाई देता।

क्षरण और वरण की रक्षा का साधन

दलितों के जीवन का इतिहास वस्तुतः दर्दनाक ही दिखाई देता है। हिन्दू समाज व्यवस्था ने दलितों के लिए जिस जिंदगी का निर्धारण किया था, वह नितांत अमानवीय रही है। अपमान, गुलामी, शोषण, दमण तथा उत्पीड़न आदि के कारण दलित समाज का क्षरण ही क्षरण होता रहा। दलितों में स्त्री, पुरुष, बच्चे तथा बूढ़े आदि सब का क्षरण यह निरंतर होता रहा। उसके श्रम के प्रतिदान का क्षरण, उसके स्वाभिमान का क्षरण और उसके अधिकार का क्षरण हमारे यहाँ सदा से चलता रहा। एक तरह से क्षरण उसकी जिंदगी का अभिन्न अंग बनकर रहा।[4]

दलित रंगभूमि ने इस क्षरण अभियान से दलित–जीवन को बचाने की सार्थक पहल आरंभ की है। उसने दोहरे दायित्व के निर्वाह का परिचय देना शुरू किया। दलित रंगमंच ने एक ओर दलितों के 'क्षरण' के विरुद्ध नारा बुलंद किया तो दूसरी तरफ उसके मनोवांछित अर्थात् 'वरण' की रक्षा का आन्दोलन खड़ा किया। कहना गलत नहीं होगा कि महाराष्ट्र की ज़मीन पर जहां मराठी रंगभूमि ने लोकरंजन का सबसे सशक्त कार्य किया वहां दलित रंगभूमि ने लोकरक्षण का जितना भी दलित नाट्य साहित्य रंगमंच पर प्रस्तुत हुआ, सब का सब लोक रक्षण के दायित्व से परिपूर्ण दिखाई पड़ता है। अर्थात् दलित समाज को सवर्णों के अन्याय से बचाने, उसके स्वाभिमान को

जगाने और उसमें चेतना जागृत करने जैसे महत्वपूर्ण कार्य का श्रेय दलित रंगमंच को ही देना।

मराठी के वरिष्ठ नाटककार डॉ. गंगाधर पानतावणे 'मृत्युशाला' नाटक के जरिए समता की कामना कर जाति व्यवस्था पर आधारित विषम समाज व्यवस्था पर व्यंग्य प्रहार करते हैं। 'मृत्युलोक' का सायनाक मृत्युदेवता से मार्मिक प्रश्न पूछता है कि शूद्र चांडालों में पृथ्वीलोक के बारे में ममता (अपनापन) कब पैदा होगी? मृत्युदेवता का उत्तर बड़ा मार्मिक होता है कि अपनापन मांगने से नहीं मिलता। वह मनुष्य के मन में दृढ़ होना चाहिए'' (मृत्युशाला, पृ. 39) सायनाक के लिए यह कठिन प्रश्न है कि जो समानता मृत्युदेवता की मान्यता है कि ''मेरे लिए वहां सब समान हैं। समता का सही नंदनवन यहीं है। किंतु झूठा अहंकार नहीं। ऐसी समता पृथ्वीलोक पर कब आएगी यह मैं कैसे कहूँ? ... ''(वही, पृ. 39) स्पष्ट है कि जाति पर आधारित भारतीय समाज व्यवस्था और उसकी विषमता पर नाटककार ने व्यंग्य प्रहार किया है। दलित समाज के 'वरण' की रक्षा का अर्थात् उसकी अपेक्षाओं की पूर्ति का आग्रह बार–बार किया है।

म. भि. शिंदे लिखित 'भूमिपुत्र' की बेबी पाटील की बेटी होते हुए भी अपने परिवारवालों द्वारा दलितों पर किए गए अन्याय, अत्याचार तथा जातिगत अहंकार से ऊब जाती है और अपने परिवार का त्याग कर शिक्षित क्रांतिकारी दलित युवक सतीश का हमेशा के लिए साथ देने के लिए निकल पड़ती है, यह कहते हुए कि ''इस घर में मनुष्य नहीं स्वार्थांध रहते हैं। मुझे इनके साथ रहना असंभव है। मैं यहाँ दम घुटकर मर जाऊँगी।''

(म. भि. शिंदे – भूमिपुत्र, पृ. 69) ऐसे अनेक चरित्रों की सृष्टि दलित रंगमंच पर हुई है।

जहां इंसानियत की अपेक्षा उपेक्षा और अपमान मिलता है। वहां दलितों को रूकना बेकार लगने लगा है। फिर चाहे वह स्थान मंदिर हो या कोई और स्थान। म. भि. चिटणीस के 'जिवंत झाल्या सावल्या' (जिंदा हुई छायाएँ) का सिद्धनाग देखता है कि सवर्णों के मंदिरों में जानवरों को भी प्रवेश है, लेकिन दलित होने के कारण उसे नहीं। अतः वह हरिपंत को स्पष्ट शब्दों में सुनाता है – ''यदि देवता के मंदिर में गाय–बैलों को प्रवेश देने वाले हो और हमें पाबंदी लगाने

वाले हो, ऊँच–नीच, स्पृश्य–अस्पृश्य जैसे भेद करने वाले हो तो हमें दूसरे मंदिर खोजने पड़ेंगे। फिर भले ही वहां देवता न हो। सिर्फ इंसानियत को नमन।'' (जिवंत झाल्या सावल्या, पृ. 11)

अम्बेडकरवादी विचारों का प्रभाव

दलित समाज की दृष्टि से बीसवीं सदी की सब से महान घटना है डॉ. बाबा साहेब अम्बेडकर के नेतृत्व का उदय। समाजशास्त्र, धर्मशास्त्र तथा अनेक ग्रंथों के गहन अध्ययन के बाद डॉ. अम्बेडकर ने पाया कि दलितों को नुकसान सवर्ण समाज ने जितना किया है, उससे ज्यादा कहीं उनके स्वयं के अज्ञान और अशिक्षा ने। इसीलिए उन्होंने दलित समाज को शिक्षा का महत्व बताया।

सामाजिक उत्थान के लिए उन्होंने जो विचार प्रस्तुत किए, दलित समाज और अज्ञान के अंधकार में धंसे समाज के उद्धार के लिए उन्होंने जिन मूल्यों और मार्गदर्शक तत्वों की हिमायत की उन्हें ही अम्बेडकरवादी विचार नाम से जाना जाने लगा। भारतीय संविधान के जरिए संपूर्ण देशवासियों को उन्होंने स्वातंत्रय, समता और बंधुता जैसे तत्वों को जीवन मूल्य के रूप में अपनाने का संदेश दिया। दलित समाज के लिए उन्होंने 'शिक्षण, संगठन, संघर्ष' अर्थात् 'पढ़ो, जुड़ो और लड़ो' यह त्रिसूत्री प्रस्तुत की।[5]

दलित रंगकर्मियों पर भी बाबा साहेब के इन्हीं विचारों का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। अनेक नाटकों में ऐसे दलित पात्रों को प्रस्तुत किया है, जिनमें अन्याय के प्रति चेतना जागृति पाई जाती है। दलित नाटककारों की नाट्य–कृतियों में ऐसी चरित्र–सृष्टि एवं संवाद–योजना मिलती है, जिस पर अम्बेडकर के विचारों का प्रभाव परिलक्षित होता है।

जातिवादी तथा वर्णवादी व्यवस्था का इंकार मराठी दलित रंगभूमि के द्वारा खुलकर होने लगा है जो अम्बेडकरवादी विचारों के प्रभाव स्वरूप ही है। दलित नाटककार गंगाधर पानतावणे के 'मृत्युशाला' के सायनाक अपने समाज, राष्ट्र और युग का सच इन शब्दों में अभिव्यक्त करता है – ''इस देश की वर्ण व्यवस्था ने मेरे देश के सोने को मिट्टी बना डाला। इस वर्ण व्यवस्था ने ही लुभावने हसीन बच्चों को पैरों तले रौंद डाला। मेरे देश मे वर्ण–व्यवस्था ने ही

मनुष्य के छोटे–छोटे द्वीप बना दिए।'' (मृत्युशाला, पृ. 29) सायनाक के विचार वर्ण–व्यवस्था का विरोध और अम्बेडकरवादी विचारों का समर्थन करते हैं।

भि. शि. शिंदे लिखित 'भूमिपुत्र' का उच्चशिक्षित युवा दलित वकील सतीश अंडेकरवादी विचारों का प्रतिनिधि पात्र है। ऊँची उपाधि हासिल कर वह शहर से अपने गाँव आता है और दलित समाज के प्रबोधन का काम करता है। दलितों, मजदूरों में चेतना और संगठन का महत्व बताते हुए कहता है – ''स्वातंत्रय'', समता और विश्व बंधुत्व का आदर्श हम सारी दुनिया को चिल्ला–चिल्लाकर बताते हैं लेकिन खेती–मजदूर को व्यवसाय स्वातंत्रय नहीं। पेट की आग बुझाने के लिए उसे जमींदार के इशारे पर चाहे जैसा नाचना पड़ता है। यह मध्यकाल को शरमानेवाला बीसवीं सदी का परिवेश हम सब के लिए लज्जास्पद है। भाइयों! यह परिस्थिति नये आर्थिक कार्यक्रम के कारण बदल रही है, किंतु उसके लिए जागृति, एकता और संगठन–भावना आवश्यक है वरना यह परिवर्तन जल्दी संभव नहीं।'' (भि. शि. शिंदे – भूमिपुत्र, पृ. 61) नाटककार सतीश के माध्यम से अम्बेडकरवादी विचारों की आवश्यकता प्रतिपादन करता है, उसकी प्रासंगिकता को प्रस्तुत करता है। न्याय, स्वातंत्रय, समता और बंधुता जैसे जीवन मूल्यों का प्रस्तुतिकरण मराठी दलित रंगभूमि को प्रधान सूत्र मानना होगा। यहां जो है, वह अम्बेडकरवादी विचारों के कारण ही है।

प्रभाकर दुपारे के 'जयक्रांति' नाटक का अंतिम दृश्य नारों से माहौल को बुलंद करता है। नारों की बुलंदी में अम्बेडकरी विचार उद्घाटित होते हैं, जैसे–

प्रभाकर दुपारे के 'जयक्रांति' का अंतिम दृश्य नारों से माहौल को बुलंद करता है। नारों की बुलंदी में अम्बेडकरी विचार उद्घाटित होते हैं, जैसे –

> ''राज्यकर्तातों, सूत्रधारों, प्रतिगामी – प्रस्थापितो! तुम्हारे राज्य में अन्याय।
>
> अन्याय!! अन्याय!!!

दलित दोस्त! तू सो मत, जाग जा। देख तेरे बदन में चारों ओर से आग लगी है। अब उठ, यह आग बुझा दो। ... और यह आग तू ही बुझा सकता है। यह अशांति, गड़बड़ और मानव जीवन की अस्थिरता तू ही रोक सकता है। इसका एक ही इलाज है कि इन प्रस्थापित प्रतिगामी राज्यकर्त्ता, सूत्रधारों के दिमाग में स्थित मानवता और समता विरोधी विचारों की तू हत्या कर। ... और उनको स्वतंत्रय, समता, बंधुता एवं न्याय जैसे जीवनमूल्य दे दें।'' (जयक्रांति, पृ. 191) कहना आवश्यक नहीं कि प्रस्तुत घोषणा और कथन में अम्बेडकर के विचारों का प्रभाव है। इसमें क्रांति की कामना भी है। किंतु यह क्रांति महज दलित ही कर सकता है। इसके विश्वास का इजहार मराठी दलित रंगमंच का प्रबल पक्ष मानना पड़ेगा।

डॉ. बाबा साहेब अम्बेडकर ने दलितों के उत्थान के लिए शिक्षा की अनिवार्यता बताई है। उनके विचारों से दीन–दलितों को पढ़ना चाहिए, बिना पढ़ाई के विकास संभव नहीं। परिणामतः दलितों की पुरानी पीढ़ी भले ही खुद पढ़ नहीं पाई है किंतु वह नई पीढ़ी को पढ़ना चाहती है। इ.नो. नारनवरे लिखित 'विद्रोहाचे पाणी पेटले आहे' (विद्रोह का पानी सुलगा है) का सुदर्शन अपनी दुखी अनपढ़ माँ को आश्वस्त करता है कि अपने छोटे भाई वर्जा की पढ़ाई का दायित्व वह स्वयं निभाएगा। वह कहता – ''माँ तू क्यों मन में दुख करती हो? मैं हूँ ना? वर्जा मेरा छोटा भाई है .. अजी, कुछ भी करूँगा उसके लिए। किंतु उसे पढ़ाऊँगा।'' (इ. मो. नारनवरे – विद्रोहचे पाणी पेटले आहे, पृ. 135)

रामनाथ चव्हाण द्वारा लिखित 'बायको मी देवाची' (पत्नी मैं देवता की) की सारजा की शादी पिता ने देवता खंडोबा से करा दी, लकिन वह गाँव के लोगों की वासना का शिकार बनी। जब वह माँ बनती है तब अपने बेटी की शादी उसी देवता से कराने की बात का वह डटकर विरोध करती है। वह चाहती है कि अपनी बेटी के हिस्से में ऐसा नारकीय जीवन ना आए। उसकी मान्यता है – ''नहीं अब्बा नहीं। यह ऐसा ही हो तो मैं अपनी छोरी देवता को नहीं छोडूंगी। अब्बा. . .बोलो. . .देवता खंडोबा से मेरा ब्याह तूने ही कराया ना? अब्बा. . . मैं देवता की पत्नी हूँ। क्या मां और बेटी का एक ही देवता

से ब्याह रचाये? क्या मां और बेटी एक ही देवता के नाम सिंदूर भरे? यह कौन–सी रीति है अब्बा . . .। तूने मेरे हिस्से में नरक ला दिया . . . किंतु उसे मैं अपनी छोरी के हिस्से में नहीं आने दूंगी।'' (बायको भी देवाची, पृ. 160) मराठी दलित रंगमंच से ऐसे किरदारों का सृजन अम्बेडकर के विचारों के प्रभाव एवं प्रबोधन का फल मानना पड़ेगा।

निश्चित रूप से देखा जाए तो बायको मी देवाची नाटक दलित साहित्य के पथ में मील का पत्थर है।[6]

दत्ता भगत के 'आवर्त' का दलित युवक मनोहर दलितों के लिए मंदिर प्रवेश की समाज मान्यता न होने से बेचैन होता है। उसके मन में ईश्वर के बारे में चिंतन चलता है कि यदि वह सब का निर्माता है, सब में होता है तो दलितों के स्पर्श से वह अपवित्र कैसे होता है? उसके इस कथन से दलितों के स्पर्श से वह अपवित्र कैसे होता है? उसके इस कथन से दलितों में विकसित चेतना का बोध होता है। (आवर्त, पृ. 180) मनोहर हजारों दलितों के मन की बात को, सदियों से चली आई धर्म तथा ईश्वर संबंधी परम्परागत मान्यताओं को इंकार कर, वाणी प्रदान करता है – ''हमारे स्पर्श से जो अपवित्र होता है वह हमारा भगवान नहीं और हमें जो दूर धकेल देता है वह हमारा धर्म नहीं। बकरी बनकर हजार साल जीने के अपेक्षा एक दिन शेर बनकर जीयो, यह संदेश हमें दिया गया है।'' (आवर्त, पृ. 187)

प्रस्तुत नाटक के मनोहर का उक्त कथन बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर की उस मान्यता की याद दिलाता है कि ''जो धर्म दलितों से ज्यादा जानवरों को पवित्र मानता है, उसका मल–मूत्र पवित्र मानता है हिंदू धर्म में मैं पैदा भले ही हुआ हूँ लेकिन मरूँगा नहीं। कहना सही होगा कि बाबा साहेब के धर्मांतरण का प्रभाव मराठी दलित रंगभूमि पर भी दिखाई देता है।

एक–दूसरे से मिलने पर लोग राम–राम, नमस्कार, जयहिंद, जयहरी आदि के प्रयोग के जरिए अपनापन, आत्मीयता, अदब को प्रकट करते हैं। परंतु इ.मो. नारनवरे के 'विद्रोहाचे पउणी पेटले आहे' (विद्रोह का पानी सुलगा है) के निवेदक को 'जयभीम' संबोधन सब से शक्तिशाली लगता है अतः वह कहता है – ''मैंने दर्शनीय तथा श्रवणीय अनेक शब्द सुने हैं। राम–राम, नमस्कार, जयहिंद और

जयहरी जैसे कितने सारे शब्द जिह्वा पर खेले हैं, किंतु सब के सब कितने ठगी, भ्रष्ट और घिसे–पिटे हैं। वाकई 'जयभीम' जैसा शक्तिमान और समर्थ शब्द मुझे दुनिया में दिखाई नहीं दिया।'' (विद्रोहाचे पाणी पेटले आहे, पृ. 128)।

म. भि. चिटणीस के 'जिवंत झाल्या सावल्या' (जिंदा हुई छायाँ) का विद्धनाग धर्मांतरण करने के बाद जिस खुशी का अनुभव करता है वह अवर्णनीय है। उसका सारा चिंतन, आचरण और सोच–विचार बाबा साहेब के विचारों से प्रभावित लगता है। उसकी मान्यता है कि ''बौद्ध धर्म स्वीकारते समय मुझे भी ऐसा लगा था कि बाबा साहेब जैसे अपना भी पुनर्जन्म हुआ है। जिस धर्म में समान दर्जा के लिए दलितों को तीस साल संघर्ष करना पड़ा,उस धर्म ने मन की गहराई तक जो हीनता की ग्रंथी और अबोध भय निर्माण किया था वह खत्म हुआ। अब हम स्वतंत्र हो गए। ऐसा लगा कि अपने जीवन का विकास करना चाहिए। वह आनंद आपको मैं शब्दों में बयान नहीं कर सकता।'' (म. भि. चिटणीस – जिवंत झाल्या सावल्या, पृ. 14) अर्थात् तथ्य यह कि मराठी दलित रंगमंच अम्बेडकरवादी विचारों का अनुगमन करता है, उनके आचार, विचार और व्यवहार से प्रभावित किरदारों का मंचन करता है।

क्रांति और विद्रोह की प्रस्तुति

जातिवाद और विषमता को खत्म कर समता की स्थापना करने के लिए दलित रंगमंच ने विद्रोह के तेवर भी अपनायें हैं। मराठी रंगभूमि ने सामाजिक समता हेतु संघर्ष और क्रांति का उद्घाटन बेहिचक किया है। समाज के संपूर्ण परिवर्तन की कामना से प्रभाकर दुपारे के 'जयक्रांति' के अंत में सत्ताधारी नेता का खून समुदाय द्वारा इन नारों के साथ किया जाता है –

''बोल भारतवासी हमला बोल!
जातिवाद पर हमला बोल!
बोल भारतवासी हमला बोल!
विषमता पर हमला बोल!

बोल भारतवासी हमला बोल!
दैववाद पर हमला बोल!
नपुंसक संस्कृति पर हमला बोल!
मानवता के दुश्मन पर हमला बोल!
खून करो, क्रांति करो।
विषमतावादी विचारों का. . .
खून करो, क्रांति करो।

(प्रभाकर दुपारे – जयक्रांति, पृ. 119)

इ. मो. नारनवरे लिखित 'विद्रोहाचे पाणी पेटले आहे' का दलित युवक शिरीष जातिवाचक शब्दों के प्रयोग से अपमानित करने वाले सवर्ण युवक मधु को केवल तमाचा ही नहीं लगाता बल्कि पुलिस इंस्पैक्टर का सामना भी करता है। अम्बेडकर की जय बोलते हुए प्रस्तुत नाटक का सूत्रधार अपने साथियों के साथ घोषणाएँ देता है, जो उनके विद्रोही रूप का परिचाय है, जैसे –

''भट ब्राह्मण पर प्रहार. . . जय भीम प्रहार
''क्षत्रिय वैश्य पर प्रहार. . . जय भीम प्रहार
''पाटील, पंडों पर प्रहार. . . जय भीम प्रहार
''मनुस्मृति पर प्रहार. . . जय भीम प्रहार
''जातिवाद पर प्रहार. . . जय भीम प्रहार
''अत्याचार पर प्रहार. . . जय भीम प्रहार
''अज्ञान–अंधकार पर प्रहार. . . जय भीम प्रहार

(विद्रोहाचे पाणी पेटले आहे, पृ. 142–143)

इससे अनायास स्पष्ट होता है कि मराठी दलित रंगमंच स्थापित व्यवस्था और काल बाह्य परम्पराओं को खत्म करने का दृढ़तापूर्वक आग्रह करता है। आवश्कता पड़ने पर वह आक्रामकता और विद्रोह को भी अपनाता है।

दलित रंगमंच ने ऐसे चरित्रों का उद्‌घाटन स्थान–स्थान पर किया है और यह भी संकेत दिया है कि सामाजिक तथा राष्ट्रीय उन्नयन में ये निश्चय ही बाधक होते हैं। इस देश की सामान्य जनता का तथा

दलितों का नुकसान शासन कर्ताओं ने सर्वाधिक किया। इसीलिए मराठी दलित रंगमंच पर ऐसे सत्ताधारियों को बार–बार बेनकाब होना पड़ा। दलित नाटककार ने उन पर स्वयं प्रहार किया। मंच पर शराब बंदी, नशाबंदी की घोषणाएँ देने वाले किंतु प्रत्यक्ष रूप से शराब की दुकानों को अनुमति देने वाले शासनकर्ता को प्रभाकर दुपारे ने 'जयक्रांति' के राज्यकर्ता के इस कथन द्वारा बेपर्दा किया है – ''हम तहेदिल से चीखते हैं कि शराब बंद करो। किंतु शराब की दुकान बंद नहीं कर सकते। शराब बेचनेवाला प्रतिमाह पंद्रह हजारी रुपए टैक्स भर देता है हमारे खजाने में। ऐसे फायदेमंद व्यवसाय को हम बंद नहीं कर सकते।'' (प्रभाकर दुपारे – जयक्रांति, पृ. 119)

लगभग इन्हीं दिनों महाराष्ट्र के पुणे शहर में मुरलीधर जाधव और उनके साथियों ने दलित नाट्य अकादमी की स्थापना की। फिर उन्होंने सन् 1979 को पुणे जिले के हवेली तहसील के शिवणे नामक गाँव में दलित रंगभूमि की स्थापना की। इसके जरिए मुरलीधर जाधव, भि. शि. शिंदे, टेक्सास गायकवाड, रामनाथ चव्हाण, शिल्पा मुब्रीसकर, अविनाश अम्बेडकर आदि ने परिवर्तनवादी विचारों के अनेक नाटक मंचित किए। सन् 1979 को ही औरंगाबाद में दलित साहित्य सम्मेलन संपन्न हुआ जिसमें प्रसिद्ध हिन्दी साहित्यकार कमलेश्वर अध्यक्ष के रूप में निमंत्रित थे। इस अवसर पर भी कुछ दलित नाटकों/एकांकियों के प्रयोग सफलता से संपन्न हुए। तब पाया गया कि रंगमंचीय नाटक दलितों के शोषण के विरुद्ध चेतना जगाने तथा दलितों का प्रबोधन करने में अत्यंत उपयुक्त एवं प्रभावी माध्यम हैं। औरंगाबाद में स्थित मिलींद महाविद्यालय जिसकी स्थापना डॉ. बाबा साहेब अम्बेडकर ने की, के सम्मेलन में बार–बार दलित नाटकों का मंचन होता रहा। अतः औरंगाबाद शहर में 'दलित थिएटर' संकल्पना ने बल पकड़ा। धीरे–धीरे उसने संस्थात्मक रूप में आकार पाया। सन् 1980 को औरंगाबाद में दलित थिएटर नामक संस्था की स्थापना हुई। सन् 1983 को इसी दलित थिएटर ने एक महत्वपूर्ण कदम उठाया और औरंगाबाद में महाराष्ट्र राज्य में स्थित सभी दलित संगठनों, संस्थाओं को निमंत्रित कर 'अखिल भारतीय दलित नाट्य परिषद्' की स्थापना की। इस संस्था का प्रथम दलित

नाट्य सम्मेलन सन् 1987 को पुणे में संपन्न हुआ। इसकी अध्यक्षता भि. शि. शिंदे ने की।

दलित रंगमंच को अधिक सशक्त एवं चर्चित बनाने हेतु 'दलित रंगभूमि' नामक मासिक का आरंभ हुआ जिसका संपादन टेक्सास गायकवाड़ पूरी क्षमता से करते रहे। इससे दलित रंगमंच महाराष्ट्र के मुंबई, पुणे, औरंगाबाद, नागपुर, अमरावती, अकोला, नासिक, नांदेड़ और सोलापुर जैसे शहरों तक फैल गया। अनेक दलित नाटकों के प्रयोग होने लगे। लेकिन यह उत्साह एक–डेढ़ दशक से अधिक समय तक टिक नहीं पाया। सन् 1995 के बाद मराठी दलित रंगमंच के लिए अवरोध की स्थिति पैदा हुई। टेक्सास गायकवाड ने 'दलित रंगभूमि' को छोड़ दिया और 'प्रबुद्ध रंगभूमि' की स्थापना की। इसके जरिए उन्होंने 'प्रबुद्ध जलसे' प्रभावी रूप में प्रस्तुत करना शुरू किया। लेकिन इसका ज्यादा प्रसार हो नहीं पाया।

शेखर पवार के विचार में अम्बेकरवादी नाटककार और रंगकर्मी अमर रामटेके लंबे समय से दलित रंगभूमि के आन्दोलन में सक्रिय हैं। मराठी में शहर, विस्फोट, पार्टी कॉमरेड जोशी, युद्धयात्रा तथा हिन्दी में कर्फ्यु, भिखमंगे प्रमुख पथ नाटक हैं। उन्होंने 1970 से लेकर 1980 तक जोर–शोर से कार्य किया। देखा जाए तो 1980 से लेकर 1990 का दशक महाराष्ट्र में आन्दोलनकारी नाटक दशक के रूप में रेखांकित हुआ है।

भारतीय नाटक के इतिहास में निश्चित ही अम्बेडकरवाडी नाट्य आन्दोलन गजब की ताकत और ऊर्जा लेकर उमड़ा और विकसित हुआ।

बंबई में लंबे समय से दलित आन्दोलन से जुड़े नाटककार जे. जे. पवार ने बतलाया कि वे डॉ. अम्बेडकर के जीवन पर महासंग्राम नाम से नाटक लिख रहे हैं। वहीं पुणे में रह रहे रतन लाल सोनाग्रा का मराठी में 'अरे सरकार, सरकार' नाटक 1989 में प्रकाशित हुआ, जिसकी जबर्दस्त चर्चा हुई। उनका अन्य नाटक क्रांतिबा फुले, मराठी, हिन्दी और गुजराती में भी आया। इसके अलावा उन्होंने बंबई दूरदर्शन के लिए 8 लघु फिल्मों पर भी कार्य किया। उनका पहला नाटक जनता की खोज था।

बकौल अरूण काम्बले महाराष्ट्र के दलित रंगभूमि के विकास में बहुत सारी बातें कारक बनती है। दलितों की तो हर बस्ती में तमाशा, जलशा तथा पथ नाटक होते थे। अण्णा भाऊ साठे ने 'थियेटर के विकास में आरंभिक स्तर पर कार्य किया, उसी की प्रेरणा से दलितों ने अपने–अपने गांव, कस्बों, बस्तियों में दलित नाटक किये। भाऊ फक्कड़ की भूमिका को कैसे इंकार किया जा सकता है। स्वयं अरुणं काम्बले ने शुरुआती दौर में रंगभूमि में हिस्सेदारी निभाई थी।

महिला कलाकार

डॉ. जयश्री शिंदे के विचार में 1930 के बाद समाज परिवर्तन के कारण स्त्रियों की भूमिका स्त्रियों के द्वारा ही निभाने की प्रथा का प्रचलन शुरू हुआ। तमाशा निर्मिती गोंधळी, वाध्या–मुरली से मानी जाती है। उसी तरह कोल्हाटी का भी सहभाग 'स्त्री' पात्र के लिए महत्वपूर्ण माना गया है। खुद को प्रतिष्ठित समझने वाले समाज के बीच नाच–गाकर मनोरंजन करने वाली कोल्हाटी लड़की ने जैसे ही तमाशा में प्रवेश किया और तमाशा और भी लोकप्रिय हो गया। रंगमंच पर अभिनय करने को कोई भी अच्छे घर के लोग उन दिनों लड़कियों को प्रोत्साहित नहीं करते थे। लेकिन दलितों को कोई अच्छा समझने का सवाल ही नहीं आता था। लड़कियाँ फिल्मों में काम करने में गौरव महसूस करती थीं, लेकिन तमाशा में कोल्हाटी समाज की स्त्रियाँ 'नाची' बनकर नृत्य करती थी। 'वग' का मतलब संवाद नाट्य। नृत्य प्रधान तमाशा में 'वग' के कारण नाटकीयता आ गई।[7]

तमाशा में 'संगीत बारी का' समावेश किया, जिसमें नाच–गाना अभिनय, नाट्य और कथात्मकता संगीत बारी की विशेषता बन गई। इसमें एक स्त्री 'बारीकी' प्रमुख रहती और चार–छह स्त्रियाँ नृत्य करती रहती हैं। इसमें प्रेक्षक कम रहते हैं। प्रेक्षकों को जैसा पसंद होता, उसी गाने पर नृत्य करना पड़ता था। रंगमंच पर नृत्य करते समय प्रेक्षकों को जो नाची पसंद है, उसे अपने पसंद के गाने पर नृत्य करने के लिए कहा जाता है और उसे पैसे देने के बहाने स्पर्श तक किया जाता है। राधा और (गौळली) गोपियाँ की भूमिका तमाशा

मे काम करने वाली स्त्रियां करती हैं। उसमें मौसीबाई की भूमिका तमाशा में की वयस्क 'स्त्री' करती हैं।

अफसोस इस बात का है कि नाच–गाकर गांव वालों का मनोरंजन करने वाला 'तमाशा' और उसमें नाचने वाली 'स्त्री' को कभी प्रतिष्ठा की हक्कदार समझा नहीं गया। यहीं दलित थियेटर की वास्तविकता है। लावनी गाने के लिए और उस पर नाचने के लिए सुंदर स्त्रियाँ तमाशा में रहती थीं। लावनी गाने वाली और उस पर नाचने वाली दोनों भी स्त्रियाँ दलित समाज की होती थीं। यह पेशा अपनाने के सिवा उनके सामने दूसरा कोई रास्ता नहीं था। क्योंकि यहाँ भी उन्हें बुरी नजरों का सामना करना पड़ता था। तमाशा पेशवाई की देन है। पेशवाई शासन के अस्त के बाद तमाशों का रूपांतरण 'फड' में हो गया और शृंगारिक लावनी का समावेश दलित रंगमंच में हुआ। इसलिए तमाशा का मतलब ही शृंगार ऐसा हो गया। 'डोंबारी' समाज की लड़कियाँ भी तमाशा में नाचने का काम करती हैं। 'कोल्हाटी' और 'डोंबारी' दोनों जातियाँ महाराष्ट्र की हैं और दलित समाज उनकी पहचान है।

महाराष्ट्र में वाध्या–मुरली 'जागरण' में मुरली का सहभाग महत्त्वपूर्ण माना जाता था। मुरली नृत्य और गीत में अपनी उपस्थिति दिखाती थी। नृत्य और गायन करने वाली कोल्हाटी 'स्त्री' पेशवाई में से नृत्य और गायन करने वाली परम्परा से ही तमाशा में 'स्त्री' आ गई। सभी लोगों ने उसे और उसकी कला को पसंद किया। पठ्ठे बापुराव के तमाशा फड में 'पवळा' नाम की नाचने वाली लड़की ने सबका मन जीत लिया था। नाचने वाली के नाच में असल मराठी लोकजीवन का चित्रण रहता था। 'तमाशा' मराठी लोककला यानी कि दलित थियेटर का महत्वपूर्ण अंग है।

इसके बाद मराठी दलित रंगमंच में महिलाओं की भागीदारी में वृद्धि हुई। जिसमें 'खडकावरचा अंकुर' (मृण्मयी बारपांडे), 'बायांच्या जल्माची नाटक' (संकलन – शिल्पा मुंब्रीस्कर), 'संगीत आम्रपाली नाटक' – (पी.के.एस. बालके, ममता वालके), 'प्रगतीचे पाऊल' – (प्रज्ञा राणे), 'खैरलांजी एक धादांत सत्य' – (प्रज्ञा लोखंडे), 'रेश्मी गुंता' – (समाधी), 'स्वयं सिद्ध' – (प्रगती नाईक), 'स्त्री 1980' –

कमल अडकिने आदि महिलाओं ने नाटक लिखकर, संपादित करके, नैपथ्य, दिग्दर्शक आदि कई काम करके अपने सहभाग से मराठी दलित रंगमंच को समृद्ध किया।[8]

शिल्पा मुंब्रीस्कर (बायांच्या जल्माची नाटक)

शिल्पा मुंब्रीस्कर को दलित रंगमंच की पूरी जानकारी थी। उसने 'बायांच्या जल्माची नाटक' सफल प्रयोग दिया। प्रेक्षक वर्ग ने उसकी सराहना की। इस संकलन में कई एकांकी संग्रहित हैं। दलित स्त्रियों की समस्याएँ, पुरुष–प्रधान वर्चस्व की शिकार ऐसे प्रश्नों की 'स्त्रीवाणी' इस संस्था ने खबर ली। इस पर ही इस दलित रंगमंच की सफलता निर्भर हैं, शिल्पा मुंब्रीस्कर का उद्देश्य यह है कि दलित थियेटर के माध्यम से दलितों के मन तक पहुँचकर उनकी मानसिकता में परिवर्तन ला सके। दलित समाज की 'स्त्री' आज भी दासी की तरह जीवन जीने के लिए विवश है। उसकी इस पीड़ा ओर वेदना को वाणी देने का काम किया गया है। दलित रंगमंच से सवर्णों और दलितों का समाज प्रबोधन करना चाहती है शिल्पा मुंब्रीस्कर। समाज प्रबोधन के साथ समाज परिवर्तन की चाह ने लेखिका को हमेशा प्रोत्साहित किया है। उनके नाटक मराठी दलित रंगमंच पर खरे उतरे हैं।

'बायांच्या जल्माची नाटक' इसमें निम्नलिखित 'स्त्री' कलाकारों ने अपनी भागीदारी दर्शायी है – शिल्पा मुंब्रीस्कर, सुलोचना गायकवाड, लता भिंगारदिवे, राधा कोल्हाटकर, आशा सूर्यवंशी, त्रिशिला गायकवाड, रूचिता शिंदे, अलका तारू और मेधा पवार।

'झाडाझडती' – शिल्पा मुंब्रीस्कर का अप्रकाशित नाटक का प्रयोग 'दलित रंगभूमि, पूना' नामक संस्था ने 17 फरवरी 1984 में किया। इस नाटक में स्त्रियों का दो तरफा शोषण अपने समाज में भी और बाहर के समाज में किस तरह किया जा रहा है इसका चित्रण बेबाकी से किया गया है।

'बायांच्या जल्माची नाटक' एकांकी संग्रह श्रीवाणी संस्था की महिला समस्याओं पर आधारिक प्रकल्प की यह जन्मदात्री है। शिल्पा मुंब्रीस्कर ने इसे एकांकी संग्रह का रूप दिया है। इस संस्था के

प्रयास से 'इस्कोट' नाम की पहली एकांकी का निर्माण हुआ। पति को शराब की लत लग गई है। उसे मुक्त करने के लिए पत्नी डॉ. बाबा साहेब अम्बेडकर की कसम खाने के लिए विवश करती है। दलित समाज की स्त्रियों की जिंदगी उनका संसार बाल–बच्चे सबको दुःखी करने वाली शराब के खिलाफ 'स्त्री' आन्दोलन ने जोर पकड़ा। समाज प्रबोधन, समाज परिवर्तन ही लेखिका की सफलता है। इस संग्रह में संग्रहित एकांकी का पथ नाट्य करने के लिए अधिक उपयुक्त हो सकती है। आज दलित 'स्त्री' में आत्मसम्मान जागृत हो गया है। 'बायांच्या जल्माची नाटक' – इसमे संग्रहित एकांकी – 'इस्कोट', 'रोजचा धिंगाण', 'सवती–सवती', 'नांदायला जाते मी', 'अंगार धुपारा', 'जाग', 'याव कुठं हाये', 'एकजुट' आदि। मराठी रंगमंच में महिलाओं की भागीदारी पुरुषों के मुकाबले कम है, लेकिन दर्जेदार और तारीफे काबिल है।

'तथागत' - (शैलेंद्र कृष्ण बागड़े)

इस नाटक में 'किरण बागडे ने यशोदा की महत्वपूर्ण भूमिका निभाकर नाटक को गरिमा प्रदान की। साथ में नैपथ्य की भी जिम्मेदारी बखूबी निभाई है। नाटक बृहत् रहने के कारण इसमें दो सौ से अधिक महिलाओं ने रंगमंच पर भूमिका निभाई है। उसमें संगीता बोरकर भी एक है।

'थांबा रामराज्य येतय' - (प्रकाश त्रिभुवन)[9]

दलित थियेटर, औरंगाबाद 1982 में प्रकाशित इस नाटक में विजया शिरोले ने इसमें नायिका की भूमिका निभाई है। ब्लैक थियेटर के 'म्युलेटो' नाटक का हिन्दी अनुवाद हुआ था। उस हिन्दी नाटक में अत्यंत प्रभावकारी भूमिका उन्होंने निभाकर मराठी और हिन्दी दलित रंगमंच पर अपनी पहचान बनाई है।

खडकावरचा अंकुर - (मृणमयी बारपांडे)

1992 में प्रकाशित एकांकी डॉ. बाबा साहेब अम्बेडकर के बालजीवन पर प्रकाश डालती है। जिस तरह बीज कोमल मिट्टी में बोये जाते हैं

और उसके बाद ही उसमें से अंकुर फूटकर बाहर आता है। लेकिन बाबा साहेब का जीवन इससे हटकर था। उन्हें बाल्यावस्था से ही अन्याय के खिलाफ संघर्ष करते हुए एक अंकुर से महावृक्ष बनना जरूरी था। इंसान मे अगर कुछ कर दिखाने की इच्छा रही तो कितना भी दुर्दभ्य मार्ग क्यों न हो सफर तय किया जाता है।

'भिक्षुणी वासवदता' - (भि.शि. शिंदे)

1978 में प्रकाशित इस नाटक में दूसरों के लिए जीनेवाली भिक्षुणी वासवदता को चित्रित किया गया है। गुणवती की भूमिका को विजया ने निभाया है। 'वासवदता' की भूमिका 'उषाकुमारी देशपांडे' ने तो 'चित्रावती' पात्र को संध्या काले ने निभाया है।

'हत्याकांड' - (कमलाकर डहाट)

इस दलित नाटक में रंगमंच पर प्रयोग के समय सुंदरा पात्र की कुंदा इंदुरकर ने और यशोदा के पात्र के रूप में चंदा जनबंधु ने भूमिका निभाई। सुशील प्रकाशन नागपुर ने 1982 में यह नाटक प्रकाशित किया।

'कैफियत' - (प्रा. रूस्तूम अचलखांब)

1981 में प्रकाशित इस नाटक में दलित कलाकारों की व्यथा और वेदना को चित्रित करते हुए भारतीय समाज व्यवस्था पर करारा व्यंग्य किया है। उन्होंने कहा – 'अब तक आपने हमारी बस्तियों को जलाया, मनुष्य को जलाया अब हमारी कला को भी आग लगाना चाहते हो।' इससे पता चलता है कि दलितों ने बहुत सहा है, बर्दाश्त किया है। इसमे रुक्मिणि की प्रमुख भूमिका है, जिसे राणी शिरोले ने निभाई है।

'साक्षीपुरम' - (रामनाथ चव्हाण)[10]

यह नाटक 1982 को प्रकाशित हुआ और दलित थियेटर अकादमी, पूना ने रंगमंच पर प्रस्तुत किया। इस नाटक का विषय दलितों ने हिन्दू धर्म के अत्याचारों से तंग आकर मीनाक्षीपुरम में मुस्लिम धर्मांतर

किया। उसके कारणों की मीमांसा इस नाटक की प्रमुख विशेषता है। सत्य घटना पर आधारित इस नाटक मे अम्मा का पात्र पुष्पा साठे ने रंगमंच पर निभाया।

जैसा स्वयं प्रज्ञा पवार जी[14] ने बतलाया कि खैरलांजी हत्याकाण्ड पर उनका नाटक 2007 में बंबई के प्रतिशब्द प्रकाशन से छपा। मराठी से हिन्दी अनुवाद किया डॉ. सूर्य नारायण रणसुभे ने। नाम था धादांत खैरलांजी यानी शत प्रतिशत खैरलांजी। बाद में दिल्ली से प्रकाशित 'युद्धरत' आम आदमी पत्रिका में 'बिल्कुल खैरलांजी' नाम से हिन्दी में प्रकाशित हुआ। इसके कोंकण/बंबई/कर्जक तथा कल्याण में मंचन भी हुए। प्रज्ञा के इस नाटक में जहां वेदांत दर्शन के खिलाफ बेबाक अभिव्यक्ति है वहीं अम्बेडकरवादी आंदोलनकारियों की आलोचना भी है।

डॉ. प्रताप राव कदम लिखते हैं कि उन्हें प्रज्ञा दया पवार की कविता 'विठाबाई मांग नारायणगांवकर की याद आती है। विठाबाई मांग नारायणगांवकर – महाराष्ट्र की लोककला का उल्लेखनीय बुलंद नाम, जिसने 'तमाशा' को राष्ट्रीय/अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर पहुंचाया। प्रज्ञा दया पवार की इस कविता की चंद पंक्तियां हैं –

विठाबाई/यह सिर्फ तुम्हारी त्रासदी नहीं
बम्मन के घर का लिखना–पढ़ना
किसान के घर का दाना
और अपनी ही बिरादी के खून में बहता गाना...
विठाबाई
तुम झुक गयी
इस प्रकाशहीन छांव के आगे
गण, गौकण, वग, लवणी, बतावणी रंगबाजी का लशकरा
खैमे के घनघोर अंधेरे में कितनी बार बुझाया
तुमने उफनती यातनाओं का आवेग
डफली, ढोलक, टुक्कड़ तथा इकतारी के सांर का
गले में बांधी हुई काले मणियों की निष्ठा से
तुमने साथ निभाया, अदाकारी का

जिंदगी भर।
अदा, सच्चे विकारों की
अदा
मनमुताबिक आंखों के खेल की
तुमने ध्वस्त की
अभिजातता की बांबी
तुम्हारी इस अनगढ़, गंवार मिट्टी की खुशबू चारों ओर।
विठाबाई
तुम्हारे थके हुए, झुरियों वाले भरे बदन से
फिर आ जाओ तमाशा के मंच पर
अब होने दे अंतिम कलगी तुरा
पूछ तो सही, क्या कहना है, उन खनकते रुपये का।
सिर्फ एक बार ही सही गाओ वह गाना
तुम्हारी जिंदगानी का
बहते/जमे रिश्तों का
तुम्हारी सहने का
दुःख दर्द का
तुम्हारे आदि अंत का...
सिर्फ एक बार होने दे बाई, वहीं तुर्रेबाज अदाकारी
शानदार
औरत से शुरू होकर
औरत में ही खत्म होने वाली
विठाबाई भाड मांग नारायणगांवकर की।

संदर्भ

1. भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला में राष्ट्रीय संगोष्ठी में प्रो. अर्जुन चव्हाण द्वारा पढ़े गये शोध पत्र से, पृ. 4।
2. वही, पृ. 5।
3. उत्तम कांबले देवदासी आणि नग्नपूजा, लोकवाङमय गृह, प्रभादेवी, मुंबई, 2008, पृ.8।
4. प्रो. अर्जुन चव्हाण के शोधपत्र से, पृ. 6।
5. वही, पृ. 8।

6. पुणे स्थित अनिल सपकाल के निवास पर उनसे मराठी रंगमंच के संदर्भ में हुई बातचीत के आधार पर।
7. दिल्ली के सामाजिक कार्यकर्ता एवं कथाकार शेखर पवार से उनके निवास ए–106, हिल अपार्टमेंट, रोहिणी में बातचीत के आधार पर।
8. पुणे स्थित गवर्नमेंट गेस्ट हाउस में प्रख्यात कथाकार एवं रंगकर्मी रतन लाल सोनाग्रा से मुलाकात के आधार पर।
9. प्रसिद्ध दलित लेखक एवं मुंबई विश्वविद्यालय में मराठी विभाग के प्रमुख प्रो. अरुण काम्बले से मुलाकात के आधार पर।
10. भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला में आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी में डॉ. जयश्री शिंदे द्वारा 'मराठी दलित थियेटर में महिलाओं की भागीदारी' विषय पढ़े गये शोध पत्र से।
11. वही, पृ. 7।
12. वही, पृ. 8।
13. वही, पृ. 10।
14. बंबई में उनके निवास पर बातचीत के आधार पर। प्रज्ञा पवार प्रसिद्ध दलित कथाकार दया पवार की बेटी हैं।

सवर्ण नाटककारों/रंगकर्मियों की दलित विषयक नाटकों में हिस्सेदारी

यह अध्याय इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है कि दलित नाटक एवं रंगमंच में सवर्ण हस्तक्षेप क्यों और किस रूप में हुआ है। दलित साहित्य में यह बहस आरंभ से रही है। सवर्ण लेखकों/नाटककारों तथा समीक्षकों के एक समूह के द्वारा यह दावा किया जाता रहा है कि उनके द्वारा भी दलित साहित्य लिखा गया है और लिखा जा रहा है। जबकि दलित कथाकारों और आन्दोलनकारियों की ओर से सवर्णों के इस दावे को खारिज किया जाता रहा है। लेकिन दलितों के भीतर से ही कुछ साथी यह स्वीकार करने लगे हैं कि सवर्ण साहित्यकार भी दलित साहित्य लिख सकते हैं बशर्ते उनके भीतर वैसा दर्द, वैसी पीड़ा और जुल्म के खिलाफ वैसी आंच दहकती हो। सवर्ण कथाकार भी दलितों की मार्मिक जीवन परिस्थितियों पर लिखें, यहां न कोई मनु है और नहीं बाल ठाकरे, जो दलितों पर सवर्णों के लिखने की प्रक्रिया को निषेध करता हो, लेकिन लिखने से पूर्व सवर्णों को वैसा महसूस करना ही चाहिए।

लिखना सिर्फ लिखना नहीं है। लेखन कला भी नहीं है बल्कि दलितों के लिए साहित्य वह प्रक्रिया है, जिसके तहत दलित कथाकार/कवि और नाटककार अपने दर्द का इजहार करते हुए सामाजिक अन्याय और विषमता से मुक्ति चाहते हैं। मानव–मानव के बीच आई जाति/वर्ग तथा मजहब की दीवारें गिराना चाहते हैं। उन परम्पराओं/रूढ़ियों/तथा प्रथाओं को ध्वस्त करना चाहते हैं जिनकी आड़ में सवर्ण समाज का एक तबका वेद/पुराण तथा स्मृतियों का हवाला देते हुए दलितों तथा महिलाओं पर अत्याचार करता रहा है।

इसीलिए साहित्य की कोई भी विधा हो, दलित जब सृजन करता है तो उसे साहित्य को आन्दोलन में तब्दील करना पड़ता है। नाटक में तो और भी अधिक दलित आन्दोलन उभर कर आता है। वह दलित आन्दोलन का एक सशक्त माध्यम है। रंगकर्मी मंच के सामने बैठे दर्शकों से संवाद बनाता है, अपनी बात जद्दोजहद के साथ कहता है। उन्हें आव्हान करता है समाज बदलने के लिए। दलित साहित्य की अवधारणा में नाटक और रंगमंच का यही स्वरूप है।

जहां तक सवर्ण नाटककारों तथा रंगकर्मियों की बात है मेरे अपने शोध में कोर्ट मार्शल संभवतः उन गिनी–चुनी नाट्य कृतियों में से है, जो दलित साहित्य के प्रतिमानों पर खरा उतरता है। मैं यह बात दलित विषयक या दलितोन्मुखी नाटकों के बारे में कह रहा हूँ। कोर्ट मार्शल स्वदेश दीपक के द्वारा लिखा गया ऐसा नाटक है, जिसमें ईमानदारी से और जद्दोजहद के साथ दलित सवालों को उठाया गया है। बताया जाता है कि स्वदेश दीपक का यह नाटक सत्य घटना पर आधारित है। नाटक के कथ्य और उद्देश्य पर ध्यान दिया जाए तो हिन्दू समाज की यह सच्चाई भी है। भारतीय समाज में जातिवाद की खाई बहुत गहरी है। सदियों से तथाकथित उच्च जातियों द्वारा निम्न जातियों पर अत्याचार किये जाते रहे हैं। नाटक में सेना का एक सिपाही रामचंदर अपमान और शोषण के विरुद्ध आवाज़ उठाता है। उसे अव्यवस्था फैलाने के जुर्म में गिरफ्तार कर लिया जाता है, उस पर मुकदमा चलाया जाता है। संक्षेप में इस नाटक के भीतर से ऐसी ही गूंज उभरती है, लेकिन इसके इतर भी बहुत कुछ है।

इस कथ्य को रूपक के रूप में प्रस्तुत किया गया है। यह नाटक न्याय व्यवस्था पर व्यंग्य करता है। इसमें सामाजिक मानवीय मूल्यों की पड़ताल की गयी है। इसमें सत्य का अन्वेषण किया गया है तथा मानवीय गरिमा को प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया गया है। रामचंदर सेना में तैनात अपने अफसर कैप्टन वर्मा और कैप्टन कपूर द्वारा जाति सूचक सम्बोधनों द्वारा बार–बार अपमानित किये जाने पर उन्हें गोली मार देता है। कैप्टन वर्मा मर जाते हैं, कैप्टन कपूर घायल हो जाते हैं। रामचंदर अदालत में समर्पण कर देता है। नाटक

का पात्र कर्नल सूरत सिंह निर्दयी व अहंकारी व्यक्ति है। वह इस केस में रामचंदर को कोर्ट मार्शल करना चाहता है पर बचाव पक्ष के वकील विकास रॉय अपनी दलील से समाज व्यवस्था के अमानवीय पक्ष को संपूर्ण स्थितियों के लिए दोषी ठहराते हैं। नाटक में कैप्टन कपूर को आत्महत्या करते हुए दिखाया गया है। संक्षेप में कोर्ट मार्शल नाटक में जातिवाद, साम्प्रदायिकता, सामाजिक भेदभाव का प्रभाव न्यायपालिका पर भी दिखाया गया है।

कोर्ट मार्शल[1] नाटक मौलिक तथा प्रासंगिक है, यह सदियों से चली आ रही समाज व्यवस्था के नैतिक नियमों पर प्रश्न चिन्ह भी लगाता है। यह नाटक रंगमंच के अलावा नुक्कड़ के रूप में भी खूब खेला गया है। अपने विचारोत्तेजक कथ्य के कारण यह विवादास्पद भी रहा है। विवादास्पद इसलिए कि आज नई शताब्दी में भी कुछ परम्परावादी लोग सामाजिक न्याय से सम्बन्धित रचना/कृतियों तथा मंचीय प्रस्तुतियों को पढ़ना/सुनना और देखना नहीं चाहते। उन्हें जड़ स्थिति में परिवर्तन बिल्कुल भी बर्दाश्त नहीं है। जाहिर है कोर्ट मार्शल को लेकर हल्ला हुआ होगा, पर इस नाटक ने राह भी तो दिखाई।

मुद्राराक्षस[2] का मानना है कि स्वदेश हिन्दी भाषा के ऐसे नाटककार हैं, जिन्होंने हिन्दी नाटकों के नए मानक बनाये हैं और बहुत से अपशकुनों को तोड़ा है। हिन्दी नाटक एक ठहरी हुई परम्परा की तरह देखा जा रहा था। लगभग चार दशक पहले मोहन राकेश ने हिन्दी नाटक को जिस शिखर पर पहुंचाया था वह ऊपर से उछाले गये पत्थर की तरह वहीं ठहर गया था। आम धारणा थी कि हिन्दी में अच्छे नाटक नहीं है। दूसरे हिन्दी में ऐसा नाटक तो संभव ही नहीं है, जिसकी हजार दो हजार प्रस्तुतियाँ हो जाएं। खुद मोहन राकेश के नाटकों को भी यह सौभाग्य नहीं मिला था। रंगकर्मी का सुख यह भी कि भले ही दो चार या फिर एक ही प्रदर्शन हो, उसके लिए इम्दाद उपलब्ध रहती थीं सिर्फ हबीब तनवीर को यह सौभाग्य मिला था कि अपने नाटक लंबे अरसे तक खुद खेलें।

स्वदेश दीपक ने हिन्दी नाटक को दुर्भाग्य की इस गली से बाहर निकाला। और बहुत बड़ी उपलब्धि बनाया। पहली बार मैंने उनके

नाटक 'कोर्ट मार्शल' की प्रस्तुति पटना से इप्टा के समारोह में देखी। यह एक स्तब्ध कर देने वाला अनुभव था। निर्देशन उषा गांगुली का था। हबीब तनवीर के बाद हिन्दी मंच पर इतनी ऊर्जास्वी रंगचर्या और रंगदृष्टि का ऐसा अनुशासन दुर्लभ होता है जैसा उषा गांगुली की प्रस्तुति में होता है। यह दिलचस्प है कि मंच के तकनीकी उपकरणों के न्युनतम प्रयोग से इतनी रंग ऊर्जा की सृष्टि ये तो ही प्रतिभाएं हिन्दी में कर सकी। – हबीब तनवीर और उषा गांगुली। रंगानुशासन की एक तीसरी मिसाल अल्का जी भी रहे हैं। इसमें शक नहीं पर मंच के तकनीकी उपकरणों का भरपूर प्रयोग प्रस्तुति को परजीवी भी बनाता है। तकनीकी उपकरणों की परजीविता ने अल्काजी के भी एक शिष्य रतन थियम की बेहतरीन रंग यात्रा को उत्तरप्रियदर्शी और नागमण्डल तक पहुंचते–पहुंचते इंटीरियर डेकोरेशन की कला में तब्दील कर दिया है। उनकी प्रस्तुतियां अब रंगानुभव कम, शो विण्डो ज्यादा होने लगी हैं। ऐसे माहौल में स्वदेश दीपक की रचना और उसकी उषा गांगुली द्वारा हो रही प्रस्तुतियां एक सुखद घटना लगती हैं। इनसे और ज्यादा संतोष एक और ज्यादा बड़ी वजह से होता है। यह कारण है 'कोर्ट मार्शल' जैसी रंग रचना का समाज बोध।

कोर्ट मार्शल की रचना का समय वही है जब उत्तर भारत में ब्राह्मण व्यवस्था के विरुद्ध देश के दलितों, पिछड़ों, आदिवासियों ने संगठित होने पर अपनी अस्मिता की रक्षा का बड़ा अभियान शुरू किया था। इस आन्दोलन का हिन्दी में लिखी जाने वाली रचनाओं की समाज दृष्टि कैसे एक सृजनात्मक अनुभव बनता है और कहां वह महज एक सामाजिक इतिवृत बन जाता है। 'कोर्ट मार्शल' समाज के दलित पक्ष की स्थितियों का एक गहरा और संवेदनशील विवेचन है। वहीं समाज के हर पक्ष पर हावी सवर्ण समाज के विषैले तन्तुओं का दस्तावेज भी है।

दिलचस्प है कि स्वदेश दीपक ने यही रोशनी सेना के तंत्र पर डाली है। पिछले दिनों जो कारगिल युद्ध हुआ था उसकी एक दुर्भाग्यपूर्ण तस्वीर पूरे देश ने देखी थी जब जवानों और अधिकारियों को राखी भेजने जैसे प्रयास हुए थे। देश ने यह भी देखा था कि

सेना को हिन्दुओं की रक्षा का माध्यम बनाया जा रहा है। सवर्ण समुदाय सेना में भी कैसे सवर्ण मानसिकता रोपता है इसकी एक साफ तस्वीर 'कोर्ट मार्शल' में देखने में आयी है। हिन्दी रंगजगत में समाजबोध तो सिरे से गायब रहा है पर वर्ण भेद का समाज शास्त्र अकेले इसी नाटक में सामने आता है।

राजकमल नायक[3] कहते हैं कि स्वदेश दीपक कोर्ट मार्शल लिखते हैं 28–30 बरस पूर्व तो उनके इस नाटक लेखन में पूरी ईमानदारी मिलती है। नाटक के संवाद झकझोरते हैं। कोर्ट मार्शल को शोक नाटक भी बताया गया है। इसका नायक असामान्य (Revolition of the spirit) का व्यक्ति है। दलित जाति में जन्मा वह आदर्श सैनिक (Ideal soldier) का सम्मान प्राप्त करता है। वह 'आत्मस्थापन' के लिए जद्दोजहद करता है और के. कपूर द्वारा निर्मित परिस्थितियों के खिलाफ अकेला सीना तानकर खड़ा होता है।

वरिष्ठ नाटककार मुद्राराक्षस लिखते हैं यह आश्चर्यजनक है कि हिन्दी ही नहीं मराठी, बंगला और कन्नड़ के जिन नाटकों ने राष्ट्रीय ख्याति पाई उनकी समाज की चिन्ता से कोई रिश्ता नहीं रहा है। इत्तफाक से ऐसी ही रंगकृतियाँ हिन्दी क्षेत्र पर भी हावी रही है। मेरा एक अनुभव है। सभी कलाओं पर उनके लाभ के लिए सवर्णों ने कब्जा किया है। भारत में रहने वाले हिन्दू शिक्षा से तो दलित समाज को काटता ही रहा है, मूर्तिकला, नाट्यकला, चित्रकला, संगीत आदि को भी शूद्रों का काम मानता रहा है, जो सवर्ण लेखक को भी प्रतिद्वंद्विता करते रहे हैं सिर्फ अर्थलाभ के लिए। रंगकर्मी, चित्रकार, मूर्तिकार और संगीतकार इस संवर्ण समाज के सबसे बड़े सेवक बने। भरतमुनि की तरह संगीत और कला के क्षेत्र के लोग भी आज समाज के सरोकारों से पूरी तरह कटे हुए हैं। चित्रकला, मूर्तिकला, संगीत और नाटक की दुनिया साहित्यकारों की तरह ही पूरी तरह सत्ता के चापलूसों की दुनिया है। ऐसे माहौल में शिखर की कलाधर्मिता के साथ स्वदेश दीपक का काम एक अर्थवान विद्राह है। यह अपने में एक बड़ी कलाक्रांति है। सफल नाटक होने के बावजूद यह नाटक अभिनय का अधिक अवकाश नहीं देता है और उसका कथ्य सामन्ती संस्कार, जाति प्रथा ऊँच–नीच की भावना

आदि तक सीमित होकर पूरे समाज के कोर्ट मार्शल की आवश्यकता सिद्ध करता है और प्रकारान्तर से रामचंदर द्वारा की गई हत्या को औचित्यपरकता प्रदान करके एकमात्र विकल्प की संभावना की ओर संकेत करता है, जिसे नक्सलवाद भी कहा जा सकता है। दो अंकों में लिखे गये नाटक में कथा का एक क्रमिक प्रवाह है जो उसे सामान्य नागरिक या जनता के उपयुक्त और ग्राह्य बनाता चलता है। वह उसे असंगत नाटकों या अनाटकों की तरह खाली समय का मनोविलास नहीं बनने देता, जिससे अभिनय स्वतः लक्ष्य बन जाता है। इस नाटक में छोटे अन्यायों और विरोधी को नजरअंदाज़ करने के परिणामों का भी संकेत किया गया है जिसे भारतीय समाज या किसी भी समाज को भोगना पड़ता है। उदाहरणतः हैः

बलवान सिंह : नहीं सर! सोचा झगड़ा निबटा दूँ। इतनी गंदी बात ना फैले तो ठीक है।

''विकास राय : आपने बिलकुल ठीक सोचा साहब! अन्याय की बात को कभी नहीं फैलने देना चाहिए। उसे हमेशा से बड़े लोग दबाते आ रहे हैं। लेकिन आपको शायद मालूम नहीं कि छोटा अन्याय हमेशा बड़े अन्याय को जन्म देता है अगर आप सी.ओ. साहब के नोटिस में यह बातें लाते तो शायद न वह खून होता और न कोर्ट मार्शल।''

कोर्ट मार्शल नाटक चाहे पुस्तक के रूप में पाठक पढ़ें या दर्शक के रूप में मंचीय प्रस्तुति देखें, जैसे–जैसे दृश्य आगे बढ़ते हैं, वे वर्ण–व्यवस्था से उपजी समाज विरोध पहेलियों में उलझते जाते हैं।

कैप्टन कपूर को यह सहन नहीं होता कि दलित समाज का कोई व्यक्ति पाँच हजार मीटर की दौड़ में अव्वल आये। हालांकि उनके लिए यह खुशी की बात होनी चाहिए थी। रामचंदर ने उत्तरी कमान के खेलों के मुकाबले पाँच हजार मीटर की दौड़ जीती थी सेना के रिकार्ड से पांच सैकंड ज्यादा। रामचंदर एशिया का रिकार्ड तोड़ सकता था, लेकिन इंटर–कमांड मुकाबलों से पहले से यह हादसा हो गया। ही कुड हैव वन एशियन गोल्ड मैडल फॉर अस। मेरी रेजिमैंट का रामचंदर एशिया का सबसे तेज दौड़ने वाला रामचंदर ले. कर्नल

ब्रजेंद्र रावत पहले अंक में गंभीर स्वर में बतलाता है।

सच कहा जाए तो इस नाटक का प्रमुख वक्ता विकाश राय नाटक के मंतव्य को स्थापित करता है और यह स्थापना रामचंदर की घटना के माध्यम से औचित्यपरक और अनिवार्य प्रतीत होती है। अंक दो के अंत में कोर्ट मार्शल के कमरे में दिया गया वक्तव्य आधुनिक लोकतंत्र के भीतर विद्यमान सामंती प्रवृत्तियों की समाप्ति की अनिवार्यता पर बल देता है। रामचंदर की फांसी एक प्रश्नचिन्ह की तरह पूरे नाटक पर और अन्ततः समाज के उन लोगों के मन में, जो रामचंदर की बिरादरी के हैं, सालती रहती हैं। हिन्दू समाज में अगर जाति आधार पर अन्याय न होता विकाश राय को भी यह भाषण न देना पड़ता।

मेजर पुरी ने ठीक कहा है–''हम एक ऐसे समाज में रहते हैं, जो कानून और व्यवस्था पर टिका है और समाज में एक व्यक्ति के विरोध के लिए कोई स्थान नहीं बिलकुल कोई स्थान नहीं। समाज ने, कानून ने, व्यवस्था ने विरोध प्रकट करने के लिए बना रखे हैं रास्ते। मीलों लंबे रास्ते, इन रास्तों पर चला शुरू किया जा सकता है, लेकिन प्रश्न तो यह है कि विरोध प्रकट के ये रास्ते क्या कहीं पहुँचते भी है बिलकुल नहीं पहुँचते। कभी नहीं पहुँचते। विरोध कोई नाटक नहीं कि अंतिम अंक, लास्ट एक्ट तक पहुँचने की प्रतीक्षा करें। शक्तिशाली लोगों के विरोध को राजनैतिक विरोध कहा जाता है और उन्हें एक ही छलांग में बिठा देता है सत्ता के बिलकुल पास रखी कुर्सी पर और कमजोर लोगों का विरोध, इसे विरोध नहीं विद्रोह का नाम दिया जाता है, जो उन्हें पहुँचा देता है फांसी तख्त तक। जब छोटे–छोटे विरोध लगातार दबा दिये जा सकते हैं तो अनसुने, अनदेखे कर दिये जाते हैं तो हमेशा एक भयंकर विस्फोट होता है प्राण घातक विस्फोट।

इस कृति के माध्यम से लेखक ने इस सवाल को पूरी संजीदगी से उठाया है कि अपनी ड्यूटी पर तैनात एक सैनिक पर आखिर वे कौन से दबाव थे, जिनके असहय होने पर उसने एक अफसर की हत्या की और दूसरे को घायल किया। इस सवाल को हल करने के क्रम में लेखक ने गंभीर अपराधों के लिए नियत कोर्ट मार्शल जैसी

सैन्य न्याय व्यवस्था को तो उजागर किया ही है, भारतीय समाज का कोढ़ कहलाने वाली जाति और वर्ण–व्यवस्था के अमानवीय चेहरे को भी नंगा किया है। कैप्टन विकाश राय के शब्दों में कहें तो ''बराबर की बात तो दूर, सोचने के स्तर पर भी हम अपने से 'छोटे' को बराबर का अधिकार देने को तैयार नहीं। कारण, वे सामंती प्रवृत्तियाँ, सामंती सोचने का तरीका, फ्यूडल टैंडेंसीज़ जिनसे हमें अभी तक आज़ादी नहीं मिली।'' और जब छोटे–छोटे विरोध लगातार दबा दिए जाएं, अनसुने–अनदेखे कर दिए जाएं तो हमेशा एक भयंकर विस्फोट होता है।

वस्तुतः लेखक ने जिस कुशलता से एक 'आपराधिक' घटना को समूचे समाज और मानव स्वभाव से जोड़कर व्याख्यायित किया है, उससे हमारे भीतर यथार्थ को देखने का एक नया नजरिया पैदा होता है, और हम अपराधी रामचंदर के बजाय मौजूदा सामाजिक ढाँचे का 'कोर्ट मार्शल' होता हुआ देखने लगते हैं।

रंगमंच पर 'कोर्टमार्शल' काफी सफल रहा है। दिल्ली और इलाहाबाद में की गयी नाट्य प्रस्तुतियाँ कथ्य को व्यापकता प्रदान करने में सफल रही है। नाट्यबंध की दृष्टि से, अत्यन्त सरल नाटक होने के कारण चरित्रांकन अधिक सूक्ष्मता के साथ अंकित नहीं हो पाया है यद्यपि कपूर, सूरत सिंह, बलवान सिंह राव और गार्ड की मनोदशाओं को प्रस्तुत करने में नाटककार ने संकेतों में नाट्य रूढ़ियों का सफल उपयोग किया है। अक्टूबर 1990 में साहित्य कला परिषद् के द्वारा कोर्ट मार्शल का मंचन रंजीत कपूर के निर्देशन में करना था। तभी तो दिल्ली में रिर्हसल के दौरान वे रामचंदर की चुनौती से भरी भूमिका करने वाले अनिल चौधरी को कहा था, रो अनिल, रो। तुम्हें किसने कहा गले से रोने के लिए। तुम्हारे हत्यारे होने का गुनाह बख्शेगा, तुम्हारा रोना। रोकर बदल दो इस हत्या को सामाजिक वध में। बकौल मधुमालती (शायद उनकी पत्नी) घर में रंजीत जब इस दृश्य का संयोजन–रिर्हसल करते हैं। कई रात तक तब भी रोना रोके नहीं रूकता। मैं शायद कल नाटक देखने भी न आऊँ। कोर्ट मार्शल के बारे में कहा जा सकता है, इट्स क्रुअल रियली क्रुअल। वैसे इस क्रुअल नाटक (थियेटर ऑफ क्रुअल्टी नहीं)

की क्रूरता को करुण रस में बदलने का कार्य शायद रंजीत कपूर ही कर सकते थे। जो उन्होंने किया भी।

विकाश राय नाटक में अकेले ऐसे पात्र हैं, जो दलितों से सिर्फ सहानुभूति ही नहीं रखते बल्कि उन्हें उनका खोया हुआ सम्मान दिलाने हेतु तत्पर भी रहते हैं। वे बार–बार रामचंदर से उनके भीतर का आक्रोश उगलवाने की कोशिश भी करते हैं। विकाश रॉय के उत्तेजित करने पर रामचंदर ने बताया कैप्टन बहुत गंदी–गंदी गालियां देते थे सर।

विकाश रायः क्या गाली देते थे?

रामचंदरः सर, चूहड़ा कहते थे, भंगी कहते थे। मेरा रंग देखकर चिट्टा चूहड़ा पुकारते थे।

विकाश रायः उस हादसे की रात तुमने इन्हें रूकने के लिए ललकारा नहीं। फिर क्यों रोकी उन्होंने मोटरसाइकिल गार्ड हाऊस के पास।

रामचंदरः सर! मैं जब भी गार्ड ड्यूटी पर होता था, ये मोटरसाइकिल रोकते थे मुझे गाली देने के लिए, क्योंकि मैंने सूबेदार साहब से कहकर अपनी अर्दली की ड्यूटी बदलवाई थी।

विकाश रायः क्या गाली दी थी उस रात?

रामचंदरः गंदी गाली दी थी सर!

विकाश रायः (चीखकर) क्या गाली दी थी? बोलो रामचंदर, बोलो। तुमने सच बोले की शपथ ली है।

रामचंदरः (चीखते हुए) चिट्टे चूहड़े! हरा की सट्ट! तेरी माँ जरूर किसी कपूर या वर्मा के साथ सोई होगी।

(उसकी चीख अब किसी घायल जानवर के अंतर्नाद में बदल जाती है। वह धीरे–धीरे नीचे झुकता है, बैठता है और उसका सिर लगभग फर्श के साथ जा लगता है वह रोए जा रहा है। ऊँची आवाज़ में। कुछ क्षणों के लिए जैसे सबके चेहरे पथरा जाते हैं।

सूरत सिंहः गार्ड, पानी लाओ।

(गार्ड पानी लाता है। सी.ओ. ब्रजेंद्र रावत गिलास उसके मुँह से

लगाता है। पानी नीचे छलक जाता है। सी.ओ एक हाथ उसके कंधे के नीचे रख उसे उठाता है। रामचंदर धीरे–धीरे सीधा खड़ा होता है। गिलास दोनों हाथों से पकड़ मुँह से लगाता है। शरीर अब भी हिलता हुआ। पानी नीचे छलकता है। सी.ओ. खाली गिलास उससे ले गार्ड को पकड़ाता है। अब रामचंदर सावधान की मुद्रा में तनकर खड़ा है।)

रावतः रामचंदर! मर्द रोते नहीं! कभी नहीं रोते।

रामचंदरः (रुँधे गले से) सॉरी सर!

लगता है कोर्ट मार्शल के लेखक स्वदेश दीपक ने विकाश राय के हक में हिन्दू समाज की नब्ज पकड़ा दी है। जैसे विकाश राय भारतीय समाज को सम्बोधन करते हुए कहते हैं।

कानून और संविधान ने सबको बराबर का दर्जा, बराबर का अधिकार दे दिया। लेकिन बड़े आदमी ने छोटे आदमी को यह अधिकार नहीं दिया। बिल्कुल नहीं दिया। जो व्यवस्था, जो समाज जाति–भेद के आधार पर चलेगा, ऊँच–नीच के तराजू में आदमी को तोलेगा, उसकी आयु कभी भी लंबी नहीं होती। बिल्कुल नहीं होती।

आखिर गिरीश रस्तोगी को क्यों यह लिखना पड़ा, क्यों स्वदेश दीपक के 'कोर्ट मार्शल' नाटक के बाद की रचनाओं में वह प्राण तत्व नहीं है?

(हबीब तनवीर देश के उन अग्रणी रंग–चिंतकों में से हैं, जिन्होंने जन–रंगमंच को नया आयाम देकर, उसे एक नए रूप में परिभाषित किया। छत्तीसगढ़ की लोक–कला को विश्वमंच पर प्रस्तुत कर उन्होंने उसे नया रूप दिया। छत्तीसगढ़ के आदिवासी घुमन्तु देवार जाति के लोगों की कला को सँवार कर, जिस रूप में प्रस्तुत किया, वह चकित करने वाला है। इसी जन–जाति की फिदाबाई, मालाबाई, पूनम जैसी प्रतिभाशाली लोक–कलाकारों को अपने 'नया थियेटर' से जोड़कर उन्हें विश्व–व्यापी पहचान दी है। 'मिट्टी की गाड़ी' 'आगरा बाजार', 'चरणदास चोर' आदि उनकी प्रस्तुतियों में देश की धरती की धड़कन का अहसास सहज ही महसूस किया जा सकता है।

नाटक उनके लिए महज एक शौक नहीं, वरन् एक जुनून था। और आज भी है। बकौल हबीब तनवीर एक लगन और लौ लगी

थी, चुनांचे एक मुकाम तक पहुँच गया। विदेश जाकर बहुत कुछ सीखा, लेकिन किसी की नकल नहीं की। छत्तीसगढ़ लोकनाट्य की समृद्ध परम्परा 'नाचा' देखा ही नहीं, समझा भी है। उसे विकसित और संवार्द्धित करने की कोशिश भी की है। लोक कलाकारों के साथ 'नया थियेटर' की स्थापना की।

हालांकि नाचा के बारे में दलित आदिवासी कलाकार मुझसे ज्यादा जानते थे। मैंने इन्हें समझाने की कोशिश की कि आर्ट में एक 'सेलेक्टीविटी' होती है। सबको समेटना नहीं, उसमें चुनना महत्वपूर्ण होता है। छत्तीसगढ़ के ये कलाकार भी इस बात को अच्छी तरह समझते हैं कि मेरे नाटकों में केवल 'नाचा' शैली नहीं है। इसमें छत्तीसगढ़ी के साथ बंगाली धुनें और पहाड़ी धुनें भी गुँथी हुई हैं। पंडवानी, पंथी, राई, तमाशा, नौटंकी और विदेशिया सहित दुसरे लोक–नाट्यों की अनुगूँज के साथ आधुनिक भाव–बोध भी है। पूरब और पश्चिम के अनुभव से, परम्परा ओर आधुनिकता के मेल से मैंने अपनी एक शैली विकसित की है। मेरे नाटकों में मानव कल्याण की दृष्टि से हर विचार, हर समय को संबोधित होता है। 1958 में जब पहली बार मैंने 'नाचा' देखा तब आमतौर पर फिल्मी गाने गाए जाते थे। 1958 में मैं रायपुर आया था। इत्तिफाक से वहां पर, जहां हम स्कूल में पढ़ते थे, रात में 'नाचा' हो रहा था, उसे 'नकल' भी कहते हैं। उसे 'गम्मत' भी कहा जाता है। मैं भी नाचा देखने चला गया और वहां सुबह हो गई। इतना अच्छा लगा कि मैं आपको बता नहीं सकता। मैं अभिभूत था। उन कलाकारों में से भोलवाराम, बाबूदास, ठाकुरराम, मदनलाल, जगमोहन आदि प्रमुख थे। मैं इनकी प्रतिभा का कायल हो गया। ये लोग बाद में मेरे साथ आए।

ये लोग अनपढ़ थे, मगर बहुत बड़े कलाकार थे। मदनलाल, ठाकुरराम वर्षों से बहुत अच्छा काम कर रहे थे। देहात के लोगों में उनकी बड़ी शोहरत और चर्चा थी। 'रिंगनी' उनकी नाचा पार्टी का नाम था।

मैं स्वयं हबीब तनवीर से 1975 में जुड़ा। उनके नाटक पोंगा पंडित पर विवाद हुआ। हबीब के नाटकों में निम्नवर्गीय पात्र ठोस और बेलोस ढंग से अपनी बात करते हैं। कहीं वे मार्मिक प्रसंग भी

प्रस्तुत करते हैं और आज के समय को ध्वनित करते हैं। मेरी राय में थियेटर का उद्देश्य मनोरंजन के साथ सामाजिक सरोकार से जूझना भी है।

कुल मिलाकर कहा जाए तो सवर्ण नाटककार समाज में बनती नई परिस्थितियों को पढ़ने का प्रयास भी कर रहे थे। पर वैसा चित्रण करते हुए या तो वे हिचकिचा रहे थे या फिर परम्पराओं/रूढ़ियों के बोझ से वे उतना दबे थे कि दो–चार कदम आगे बढ़ने के बाद हाँफने लगते थे। उनके संस्कार उनके रास्ते में आ जाते थे, जो उन्हें रोकते भी थे और टोकते भी थे। हिन्दू धर्म की निर्लज परम्परा/प्रथाओं से मुक्ति हेतु नये रास्ते बनाने की उनमें इच्छा शक्ति न थी। वे परिवर्तन के तो हिमायती थे, लेकिन परिवर्तन हेतु बूढ़े बरगद की कांट–छांट करने के हक में न थे। सूर्य को सवेरे–सवेरे पानी तो देते थे, पर सूरज के दर्शन को आत्मसात नहीं करना चाहते थे।

कुछ नाटककारों ने आगे बढ़ना भी चाहा। हबीब तनवीर ने न सिर्फ 'आगरा बाजार' लिखा बल्कि उसकी अनगिनत प्रस्तुतियां भी की। मणि मधुकर ने 'इकतारे की आंख' के माध्यम से जहां कबीर के तत्कालीन समाज के परिवेश को आधुनिक युग बोध के साथ जोड़ा वहीं 'दुलारीबाई' के द्वारा महिला चेतना को उभारा। अन्य नाटक भस्मासुर जिन्दा है में ऐतिहासिक पात्र जैसे एकलव्य, अहल्या आदि अभी भी शोषित हो रहे हैं, उन्हें चित्रण का प्रयास किया गया। शंकर शेष के द्वारा लिखित 'एक और द्रोणाचार्य' इसी में से एक सटीक कदम है। सुदर्शन चोपड़ा ने 'काला पहाड़' में दिखलाया कि विवशताओं के कारण कमजोर तबके के लोग प्रतिक्रियावादी होते जा रहे हैं। डॉ. लाल का 'पंच पुरुष' पंचायती राज और उसके माध्यम से प्रजातांत्रिक मूल्य के विस्तार की योजना को यथा–स्थितिवादियों के हाथ चले जाने का संकेत देता है, जिससे नई सामन्ती व्यवस्था कायम होगी।

इधर देखा जाए तो कृष्ण प्रकाश सिंह अखौरी विरचित का 'पन्ना' (पन्ना धाय पर) नाटक भी आया और कर्त्तार सिंह दुग्गल का 'बुद्ध शरणं गच्छामि' भी प्रस्तुत हुआ। वहीं डॉ जगदीश गुप्त का शंबूक नाटक भी इसी शृंखला में आया। मेरी राय में वे इन सबके बहाने

साहित्यिक विलास भी कर रहे थे। मैं यह बात इसलिए भी कर रहा हूँ कि जब सवर्ण नाटककार झांसी रानी लिख रहे थे तो वे झलकारी बाई के शौर्य से अनभिज्ञ थे। जब सवर्ण लेखक नाना फड़नवीस तथा तात्या टोपे पर लिख रहे थे तो मातादीन भंगी के चरित्र को ओझल ही रखना चाहते थे। जैसा उन्होंने एक सीमा तक किया भी।

इसका कारण यह भी रहा कि इसी दौर में शंकराचार्य तथा तुलसी पर भी अनगिनत नाटक लिखे गये। जिससे आर्य संस्कृति कहें या हिन्दुत्ववाद ही नाटकों में पुष्ट होता गया। कुछ सवर्ण नाटककारों ने भटकाने/उलझाने का कार्य भी किया। उदाहरण के लिए राम की लड़ाई (1979) में पौराणिक गाथा का नया आकाश खुला। और प्रतीक रूप में हिरण्यकश्यप को इस्तेमाल किया। डॉ. नरेन्द्र कोहली का नाटक 'शंबूक की हत्या' (1975) इसका सटीक उदाहरण है। यहां राम को नहीं व्यवस्था को दोष दिया गया है। उदयशंकर भट्ट का नाटक 'असुर सुन्दरी (1972) हो या फिर डॉ. कुसुम कुमार का 'रावण लीला' (1983) या कुमार प्रशान्त के 'जटायु' (1987), फिर विनोद रस्तोगी का नाटक 'सूत पुत्र' (1974—महाभारत के प्रसिद्ध पात्र कर्ण के जीवन पर दूधनाथ सिंह ने यमगाथा में इला, वशिष्ठ पुरूरवा एवं उर्वशी पर आधारित मिथकीय कथानक को नाटक का विषय बनाया गया है। इनका मूल स्त्रोत वेदों, पुराणों एवं महाभारत से ग्रहण किया गया है।

इला को महाभारत के वैवस्वत मनु व श्रद्धा की पुत्री बताया गया है, जिसे बुद्ध से पुरूरवा नामक पुत्र प्राप्त होता है। पुरूरवा उर्वशी का मूल संदर्भ सर्वप्रथम ऋग्वेद में संवाद सूक्त के रूप में उपलब्ध होता है।

महिलाओं का उत्पीड़न, महिलाओं में चेतना लाकर ही रोका जा सकता है। पर क्या सवर्ण नाटककार महिलाओं में वैसी चेतना ला पाए, जिसकी उन्हें जरूरत है। प्रभाकर श्रोत्रिय ने अपनी रचनाओं के माध्यम से अपनी परिवेशगत समस्याओं को संवेदनशील हृदय द्वारा गहन अभिव्यक्ति प्रदान की है। जिनमें इनका सजग, सतर्क, भावुक और सामाजिक चेता का रूप उभरकर सामने आता है। प्रभाकर श्रोत्रिय को सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्रों में बढ़ती विसंगतियाँ

सर्वाधिक परेशान करती थीं। इसलिए समाज की सबसे उपेक्षित पात्र नारी की त्रासद स्थिति को देखना उनके लिए सर्वाधिक दुःखदायी था।

नरेन्द्र मोहन के विवेच्य नाटक 'कहै कबीर सुनो भाई साधो' ऐतिहासिक मिथक के आवरण में भी समसामयिक जीवन के साथ जुड़कर सामयिक स्थितियों, विसंगतियों, विडंबनाओं तथा मूल्यों को हमारे समक्ष आवरणहीन करके हमें वर्तमान विसंगतियों व स्थितियों पर चिंतन के लिए प्रेरित करती हैं। लेकिन दलित समाज के लोगों को वह नाटक भी प्रेरित नहीं कर पाता। लगभग यही स्थिति गिरिराज किशोर के 'प्रजा ही रहने दो' और रेवती शरण शर्मा के 'राजा बलि की नई कथा' नाटकों की है।

ये राजा राम के राज्य की दुःखी व असंतुष्ट जनता को अपने–अपने नाटकों में चित्रित तो करते हैं लेकिन उस विचार को ध्वस्त नहीं करते। सही बात तो यह है कि ये सभी रामराज्य के चारण हैं, जो चाटुकारिता करते हुए आर्य संस्कृति का गुणगान तो करते हैं लेकिन सीता, गांधारी, कुन्ती, द्रोपदी के साथ शंबूक और एकलव्य के साथ न्याय नहीं कर पाते हैं।

वैसे आजकल लिखे जा रहे नाटकों में मध्यवर्गीय सामाजिक पारिवारिक जीवन की विसंगतियाँ और मानसिक यातनाएँ या लुंजपुंज भ्रष्टता, सामाजिक संवेदन शून्यता, छिजता हुआ मौन समाज और वर्षों से,युगों से सड़ती हुई सामंती प्रवृतियों के प्रति व्यापक असन्तोष पाया जाता है।

छत्तीसगढ़ में 'देवार' एक घुमक्कड़ जाति है, इस जाति की फिदाबाई, मालाबाई और पूनम तीनों ने 'नया थियेटर'में अच्छा काम किया है। नाटक 'मोर नांव दमाद गांव' के नांव ससुरार में छत्तीसगढ़ी विवाह गीत के साथ ददरिया, करमा, सोहर का प्रयोग पहली बार किया, तो उसका महत्व अचानक बढ़ गया।

कलात्मक ढंग से दिखाए जाने के कारण उसमें गहराई आ गई। हास्य के भीतर से निकलता हुआ व्यंग्य लोगों को बहुत पसंद आया। यही 'सेलेक्टीविटी' है। खेतों के बाने मंच पर गाये जाने लगे, जन्म और मृत्यु के गीतों का समावेश होने लगा। सोलह संस्कारों से जुड़े

गीत में 'नाचा' में गूँजने लगे। ठेठ लोकगीतों का चलन 'नाचा' में बढ़ गया। 'वेल्यू' बढ़ती देख अपने आप सब तरफ गीतों का स्वागत होने लगा। अनगढ़ हीरों की चमक से सब हतप्रभ रह गए।

देवदास बंजारे की पार्टी के पंथी नृत्य को देखकर भला कौन आह्लादित नहीं हुआ होगा। बकौल प्रभाकर चौबे लोक कलाकारों के साथ मेरा अनुभव है कि वे स्वभावतः विनम्र होते हैं। हबीब तनवीर ने यहां के जिन कलाकारों को उठाया, उन्होंने अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर नाम कमाया। इसके विपरीत शास्त्रीय कला क्षेत्र से आए लोगों में एक तरह की 'ठसक' होती है। इस अंतर का कारण शायद यह है कि लोक कलाकार जनता के बीच से निकलते हैं और जनता के बीच ही रहते हैं। इन दलित और आदिवासी कलाकारों का व्यवहारिक पक्ष देखें।

आज रात अगर वह नाच रहा है, गम्मत दिखा रहा है तो कल खेत में साथ मिलकर निंदाई में जुटा है। देवदास बंजारे ने इसी लोकजीवन से उठे कलाकार थे। देवदास बंजारे ने छत्तीसगढ़ को दुनिया में पहचान दी। पिछले दिनों सड़क दुर्घटना में देवदास बंजारे की मौत हो गई।

छत्तीसगढ़ की 'लोककला संसार' के इतिहास में देवदास बंजारे ने अपना स्थान सुरक्षित किया है। पंथी नृत्य की परम्परा को जहां छोड़ गए हैं, वह आगे बढ़ेगी। 1984 में मध्यप्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन का वार्षिक अधिवेशन रायपुर में हुआ। अधिवेशन का उद्घाटन प्रसिद्ध कथाकार कृष्णा सोबती ने किया था। और सांस्कृतिक कार्यक्रमों के अंतर्गत देवदास बंजारे की पार्टी के पंथी नृत्य को देखकर वे आह्लादित हुई और कहा था – इतनी गति, थ्रिलिंग, रोमांचित कर गया यह नृत्य। वे देवदास बंजारे से मिली और उन्होंने धरती–पुत्र कलाकार को बधाई दी।

मदन निषाद नहीं रहे। 19 फरवरी 2005 को गुंगेरी नवागांव (तहसील डोंगरगांव, जिला राजनादंगांव, छत्तीसगढ़) में उनका निधन हो गया। छत्तीसगढ़ी लोकनाट्य 'नाचा' के इस अप्रतिम कलाकार ने हबीब तनवीर की नाट्य मंडली 'नया थिएटर' की विभिन्न प्रस्तुतियों में अभिनय करते हुए पिछली सदी के उत्तरार्द्ध भारतीय रंग–परिदृश्य

पर अपनी अमिट छाप छोड़ी है। स्वयं हबीब तनवीर उन्हें विश्वस्तरीय अभिनेता मानते हैं। मदन निषाद के देहावसान से निस्संदेह रंगमंच को गहरी क्षती पहुंची है। उनके न रहने का अर्थ छत्तीसगढ़ी नाचा – कलाकारों की उस अध्यवसायी पीढ़ी का प्रायः समाप्त हो जाना है, जिसने कला की लोक–परम्परा को आधुनिक रंगमंच के विधि–विधान में रूपांतरित ही नहीं प्रतिष्ठित भी किया था।

मदन निषाद के न रहने पर उनके होने का अर्थ तलाशना यदि प्रासंगिक जान पड़ रहा है तो इसलिए कि उनके साथी कलाकारों ने न सिर्फ नागर रंगमंच पर नाट्य अभिनय की लोकसिद्ध संभावनाओं के क्षितिज उद्घाटित किये बल्कि प्रशिक्षित अभिनय कर्म को निरंतर बौना भी साबित किया। भारतीय रंगमंच में मदन निषाद जैसे अभिनेता अगर हुए हैं तो उनके होने का अर्थ महज उनके अपूर्व अभिनय से परिभाषित नहीं होता बल्कि आत्मसंघर्ष में भी चरितार्थ होता है।

कलाकार यहां एक साथ दो मोर्चों पर संघर्ष करने के लिए मजबूर हैं – कला के स्तर पर और आजीविका के स्तर पर। नाचा के अभिनेताओं ने साबित किया है कि कला के मोर्चे पर फतह पाना उसके लिए कतई मुश्किल नहीं। मदन निषाद ने 'चरनदास चोर', 'बहादुर कलारिन', 'मोर नांव दमाद गांव के नांव ससुरार आदि नाटकों में अपने विलक्षण अभिनय से सिद्ध किया कि लोक–अनुभव को आधुनिक जीवन के सांचे में ढालना उन्हें बखूबी आता है। लेकिन आजीविका के मोर्चे पर उनका संघर्ष कर देने के बजाए प्रतिवाद का रास्ता अपनाया।

इन दो मोर्चों पर मदन निषाद का आत्मसंघर्ष उन तमाम लोक–सर्जकों का आत्मसंघर्ष बन जाता है, जिनकी कला अपने प्रकृति परिवेश से बाहर आकर अपनी पहचान बनाने की कोशिश में जुटी होती है। यह दोहरा आत्मसंघर्ष है, क्यांकि लोक–कलाएं स्वयं अपने परिवेश में अस्तित्व के संकट से जूझ रही है और शहरी संस्कृति उन्हें सिर्फ अपनी शर्तों पर ही अपनाने को तैयार होती हैं।

1955 में जब वे 'नया थियेटर' में शामिल हुए नाटकों के माध्यम से नाट्याभिव्यक्ति में जो नया मुहावरा विकसित होता दिख रहा था,

वह स्वयं हबीब तनवीर के निर्देशकीय कौशल से अधिक भुलवा राम, लालूराम, मदन निषाद, फिदाबाई, मालाबाई आदि छत्तीसगढ़ी नाचा – कलाकारों की लोकसिद्ध अभिनय क्षमता के द्वारा निर्मित हुआ था। 'नया थियेटर' में इन कलाकारों के शामिल होने के पूर्व शहरी रंगमंच के आधुनिक व्याकरण में लोकनाट्य की प्रस्तुति की कल्पना ही संभव न थी। मदन निषाद जैसे अभिनेताओं को रंगकर्म की इस अवधारणा को मूर्त्त रूप देने का वास्तविक श्रेय मिलना चाहिए।

नाटक एक सामाजिक–राजनैतिक विधा है। वह कोई समाधान दे, यह आवश्यक नहीं है। वह तथ्यों को इस प्रकार से नाट्य में रूपांतरित करता है कि वे सामाजिक सत्य के रूप में उजागर हो जायें। इन नाटकों के बरक्स दूसरे कई नाटक हैं, जो वर्तमान के सातत्य को ही नाटक का विषय बनाते हैं। वर्तमान में ही नाटक घटता है। 'कबीरा खड़ा बजार में' भीष्म साहनी का उद्देश्य कबीर के व्यक्तित्व की चुनौती पुर्ण मुद्रा में प्रस्तुत करना नहीं है बल्कि अन्याय, अत्याचार, पाखण्ड, धार्मिक मतवाद, साम्प्रदायिक समस्याओं, जाति प्रथा, अधिनायकवादी प्रवतियों के रूपान्तरणों के क्रमबद्ध विकास को प्रस्तुत करने के साथ आज के समाज में इन प्रश्नों को चुनौती के रूप में दर्शकों से उत्तर पूछना था। नाटक है ही इसलिए कि यह जनता को कबीर में रूपान्तरित करता है और समस्याओं के निदान के लिए पारिचालित करता है। विडम्बना को नाटक के केन्द्र में रखने के बावजूद भी नाटक पाजिटिव रह सका है, यह नाटककार की क्षमता है। भीष्म साहनी के नाटकों में भी प्रसाद के नाटकों की तरह पाठ्कगण हैं। प्रयोगधर्मिता या प्रयोग गुण तो है। कारण यह है कि नाटक का लक्ष्यीभूत दर्शक निम्न मध्यवर्ग है। 'माधवी' में भी महाभारत की कथा को वर्तमानित मानकर नाटक रचा गया है। तृप्ति के लिए पुरुष को माध्यम मानने वाली माधवी भारतीय समाज के इतिहास और वर्तमान को जहां एक और उभारती है वह तीनों अंकों और दस दृश्यों में विभाजित इस नाटक में नया अभिप्राय पैदा करता है। परम्परागत कथावाचन शैली से नाटक को समय, संरचना के साथ ही साथ एक भिन्न स्तर भी प्राप्त होता है और नाटक द्विकेन्द्रीय हो जाता है। फलतः एक द्वन्द्वात्मक अर्थ संगति

या प्रतिच्छाया विकसित होती है, जो उसे महत्वपूर्ण कलात्मकता प्रदान करती है। इसके कारण रंगकर्म में गतिशीलता और जीवन्तता भी पैदा होती है। नाट्य रचना में ऐसे प्रयोग लक्ष्मीनारायण लाल ने 'नरसिंह कथा' में किये हैं।

जब उनसे दलित नाटक के बारे में बातचीत की गई तो उनका कहना था कि ऐसा नहीं कि गैर दलित नाटककारों/लेखकों ने दलित विषय पर नाटक नहीं लिखे और अच्छी तरह से उनकी प्रस्तुति भी की। हबीब तनवीर से मैं 1975 में जुड़ा। हबीब के नाटकों में निम्नवर्गीय पात्र बेलांस ढंग से अपनी बात कहते हैं। इस तरह के पात्र मार्मिक प्रसंग प्रस्तुत करते हैं। 'जमादारनी' नाटक में तो पोंगा पण्डित पर व्यंग्य किया गया है। जिस पर विवाद भी हुआ। असल में सनातनी लोगों को बहुत कुछ खटकता है। जमादार या जमादारनी ने कुछ कह दिया तो सवर्ण को बुरा लगता है, पर सवर्ण दलित समाज के लोगों को कुछ भी कहे।

इस बारे में विभू खरे ने अच्छा लिखा। वे बड़े कहानीकार हुए, नाटक भी लिखते थे। एम.के रैना ने 'तालों में बंद प्रजातंत्र' लिखा। हवाओं का विद्रोह आदिवासी शोषण की कथा पर आधारित है। इसी संदर्भ में मनु भण्डारी के नाटक महाभोज को भी याद करना जरूरी है। राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, रंगमण्डल द्वारा अम्माल अल्लाना के निर्देशन में इसका मंचन हुआ। निश्चित ही यह समकालीन राजनीतिक–सामाजिक जीवन की मूल्यहंता गतिविधियों की शर्मनाक सच्चाई में विविध आयामों का प्रभावशाली एवं जीवन प्रस्तुतिकरण है।[4] मन्नु जी ने अपने इस नाटक में व्यवस्था के ऊपर से भोले एवं मासूम किंतु भीतर से क्रूर और घिनौने चेहरे को निर्ममता से बेनकाब किया है।[5]

नाटकों के क्षेत्र में प्रयोग धर्मिता नाटक की प्रकृति के कारण विद्यमान रही है। हिन्दी नाटकों में प्रारंभ से 'अंधेर नगरी के समय से ही प्रयोग किये जाते रहे हैं। भुवनेश्वर, अश्क, लक्ष्मीनारायण लाल, मोहन राकेश, रमेश बक्षी, ज्ञानदेव अग्निहोत्री, विपिन कुमार अग्रवाल, लक्ष्मीकांत वर्मा, मुद्राराक्षस आदि ने नाटक में विविध प्रयोग किए हैं जो कुछ तो हिन्दी में ही यह संभव है इस दृष्टि से और कुछ इस

दृष्टि से कि आधुनिक मनुष्य की स्थिति और यंत्रणा को इस रूप में ही परिभाषित किया जा सकता है। छठवें दशक में जिसे इब्राहिम अल्काजी नाटक और रंगमंच की दृष्टि से भारत का महत्वपूर्ण दशक मानते हैं। अल्काजी के अनुसार भारतीय रंगमंच के विकास में छठा दशक अनेक कारणों से बहुत ही समृद्ध ओर महत्वपूर्ण कालों में से एक माना जायेगा। सबसे स्पष्ट और सबसे प्रमुख कारण यही है कि इन वर्षों में रंग कला की आनुषंगिक शाखाओं नाट्य लेखन, अभिनय, निर्देशक, मंच परिकल्पना एवं प्रकाश व्यवस्था ने विशिष्ट प्रतिभाओं के जरिये प्रौढ़ता प्राप्त कर ली है।

संदर्भ

1. स्वदेश दीपक के नाटक कोर्ट मार्शल से।
2. मुद्राराक्षस से लखनऊ स्थित उनके निवास पर बातचीत के आधार पर।
3. कथाकार एवं नाटककार राजकमल से रायपुर (छत्तीसगढ़) स्थित उनके निवास पर बातचीत के आधार पर।
4. हिन्दी नाटक पर आजकल में प्रकाशित मेरा आलेख, पृ. 174।
5. वही, पृ. 175।

ट्रीटमेंट

पिछले एक दशक से गैर दलित कथाकारों तथा नाटककारों के बीच दलित विषयों पर लिखने की होड़ सी मच गई है। हालांकि उनमें से कुछ बहुत पहले से ही लिखते आ रहे हैं। वे दलित जीवन की परिस्थितियों से उनकी अस्मिता तक कैसा विचार अपनी रचनाओं में ला सके हैं, यह महत्वपूर्ण सवाल आज हमारे सामने है। वे सामाजिक परिवर्तन को किस तरह से देख रहे हैं यह भी विचारणीय बात है।

एकलव्य और शंबूक पर दलित तथा सवर्ण जातियों के बहुत से नाटककारों ने लिखा है। पर सर्वप्रथम तो दृष्टि में ही फर्क रहता है। कौन से बिंदुओं को दलित रंगमंच में उठाना चाहिए, मेरी अपनी राय में अधिकांश सवर्ण नाटककारों की समझ अभी तक वैसी नहीं बनी है। हिन्दू होने के नाते उनकी एक सीमा भी है, जिसे वे चाहते हुए भी नहीं उलांघ सकते। इसमें उनकी कोई गलती नहीं बल्कि जन्म से ही जिन संस्कारों को लेकर वे पलते–बढ़ते हैं, उसमें उनका दोष है। इसलिए अपनी उन परम्पराओं से वे उस तरह से विद्रोह नहीं कर पाते, जैसा दलित साहित्य की अस्मिता को ध्यान में रखते हुए करना चाहिए।

सूर्यनारायण रणसुभे[1] लिखते हैं कि डॉ. रामकुमार वर्मा जी का लेखन कविता, नाटक, एकांकी, संस्मरण तथा समीक्षा इन पांच प्रमुख साहित्य विधाओ में बंटा हुआ है, इसके अलावा आपने साहित्य विषयक शोध–कार्य भी किया है। कहानी तथा उपन्यास इन कथात्मक विधाओं में वे रम नहीं पाए, इन पांच विधाओं में भी कविता, नाटक और एकांकी इन तीन विधाओं में आपकी विपुल रचनाएं मिलती हैं।

1956 में डॉ. वर्मा जी का 'एकलव्य' महाकाव्य प्रकाशित होता है, चौदह सर्गों में लिखे इस महाकाव्य में एक ही छंद का प्रयोग

हुआ है, धनाक्षरी छंद का आधा रूप, धनाक्षरी 16+15 मात्राओं का छंद है, वर्मा जी ने केवल 15 मात्राओं का प्रयोग किया है। यह छंद अमित्राक्षर नाम से जाना जाता है, इस महाकाव्य की कथा महाभारत से ली गई है। केवल आधार रूप में प्रेमचंद ने जिस प्रकार रंगभूमि में पहली बार एक दलित–शूद्र को नायकत्व प्रदान कर शास्त्र की मान्यताओं को नकारने की हिम्मत दिखलाई, ठीक उसी प्रकार डॉ. रामकुमार वर्मा जी ने महाकाव्य में पहली बार एक आदिवासी युवक को नायकत्व देकर संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा को नकारा है। साहित्य के अध्येता यह जानते हैं कि अंग्रेजी कवि टी.एस. एलियट से प्रेरणा लेकर हिन्दी में गीतिनाटयों की रचना हुई, अंधा युग (डॉ. ध र्मवीर भारती) एक कंठ विषपायी (दुष्यंत कुमार), शंबूक (जगदीश गुप्त), संशय की एक रात (नरेश मेहता) परंतु इन रचनाओं के बहुत पहले 1956 में बिना किसी चर्चा या स्थापना के डॉ. रामकुमार वर्मा 'एकलव्य' महाकाव्य की रचना कर चुके थे। आदिवासी युवक की – प्रकारांतर से इस देश की वर्ण व्यवस्था द्वारा नकारे गए युवक की–व्यथा को वे सन् 1956 में शब्दबद्ध कर चुके थे।

दलित, आदिवासी और शोषित वर्ग का यह पहला महाकाव्य है। वर्ण व्यवस्था/वर्ग व्यवस्था के प्रति विद्रोह व्यक्त करने वाली यह पहली सशक्त कृति है। इसके मूल में वही पाखंडपूर्ण, सनातनी मानसिकता है, जो किसी भी स्थिति में नहीं चाहती कि दबे, कुचले लोग अपने कठोर परिश्रम के आधार पर सवर्णों के साथ स्पर्धा में खड़े हो जाएं, आज पूरे देश में जब दलित विमर्श की बात चल रही है, तब 'एकलव्य' अधिक प्रासंगिक हो जाता है।[2]

आचार्य द्रोण की धनुर्विद्या की महिमा एकलव्य सुन चुका है। वह भी इस विद्या को आत्मसात करना चाहता है, उसने प्रतिज्ञा की है कि द्रोण ही उसके गुरु होंगे, परंतु क्या यह संभव है? चतुर्थ सर्ग 'प्रेरणा' में इसी पर बहस की गई है, एकलव्य की मां का कथन है कि एकलव्य यह जिद छोड़े, ऐसा संभव ही नहीं है क्योंकि,

'..... इतना तू जान ले,
वे हैं आर्य, हम शूद्र, हम सब शूद्र हैं।

आर्य और शूद्र कैसे गुरु–शिष्य होंगे रे?
तेल अपने को क्या मिला सकेगा पानी को?
पूछ ले पिता से, वे तो नित्य आते–जाते हैं
राजधानी! विप्र और क्षत्रियों ने क्या कभी
भेंट की है, उर से लगाकर एक बार भी?
हैं निषादराज, यह अंत में निषाद ही।'[3]

जब एकलव्य यही प्रश्न अपने पिता से पूछता है तब वे कहते हैं –

'..... किंतु संदेह है कि
वे निषाद–पुत्र को बना लें शिष्य अपना!
इस पर एकलव्य का भोला–सा प्रश्न है–
मेरा अपराध क्या है?
वह कुछ भी नहीं।
शूद्र जाति मेरी है?

तब पिताजी उसे बतलाते हैं कि भीष्म की राजनीतिक दृष्टि बड़ी सूक्ष्म है। वे नहीं चाहते कि इस देश के आदिवासी बाहर से आए आर्यों के खिलाफ संगठित हो जाएं। सवर्ण और शूद्रों के संघर्ष के मूल में तत्कालीन राजनीति किस प्रकार कारणीभूत रही है, इसका संकेत यहाँ दिया गया है, वास्तव में यह सत्ता का संघर्ष ही था। और इसका कारण भीष्म नहीं चाहते थे कि आदिवासी धनुर्विद्या में प्रवीण हो जाएं।[4]

डॉ. वर्मा जी की स्थापना यह है कि एकलव्य को नकारने के मूल में द्रोण की गरीबी है, दरिद्रता है, इस नकार के मूल में 'सत्ता का आतंक' तथा 'अर्थहीन व्यक्ति की असहायता' है। ऐसा वे बतला रहे हैं, क्या यह उस काल की वास्तविकता है? क्या गुरुकुल में योग्यतानुसार प्रवेश दिया जाता था अथवा वर्णाश्रम धर्मानुसार? डॉ. वर्मा 'वर्ण व्यवस्था' को कटघरे में खड़े नहीं करते अपितु 'वर्ग व्यवस्था' को कटघरे में लाते हैं। कहीं–कहीं पर वे वर्ण व्यवस्था के विरोध में भी लिखते हैं।

यहाँ स्थापनाएँ किस ओर इशारा कर रहीं हैं। डॉ. बाबा साहेब

अम्बेडकर अपना प्रसिद्ध ग्रंथ 'हू वर द शूद्राज़' तथा 1946 में 'द अनटचेबल्स' 1948 में प्रकाशित कर चुके थे। इन दोनों ग्रन्थों में उन्होंने शूद्रों की खोज के साथ हिन्दू सामाजिक संरचना, जातिप्रथा, चातुर्यवर्ण्य और अस्पृश्यता का विवेचन किया है। उनसे पूर्व आर्य–शूद्रों के संघर्ष को म. जोतिबा फुले पूरे विस्तार के साथ सिद्ध कर चुके थे। डॉ. रामकुमार वर्मा जी का एकलव्य इन दोनों की भाषा में ही तो बोल रहा है। ठीक मा. जोतिबा फुले की तरह यह प्रश्न पूछता है –

'हम हैं अछूत, तो हमारे अंग–स्पर्श से
आर्यों के सु–अंग क्या कु–अंग बन जायेंगे?

शूद्रों को क्रांतिकारी बन जाने के सिवा जब कोई दूसरा मार्ग नहीं है –

'हमने सहन की है वर्ग की विगर्हणा
शूद्र कहलाते रहे, सेवा भाव मान के।
किंतु जब मानव को विद्या का निषेध हो
बात क्या नहीं क्रांतिकारी बन जाने की।'[5]

सामाजिक न्याय की दृष्टि से सोचें तो कहना पड़ेगा कि आर्य–शूद्र के संघर्ष का प्रश्न तो पूरी ताकत के साथ कवि ने उठाया है परंतु उसका निर्वाह वे सामाजिक यथार्थ के संदर्भ में नहीं कर पाए हैं। एक पूरी व्यवस्था को मनुज विरोधी वर्ण व्यवस्था को वे कटघरे में नहीं खड़े करते। अपितु तत्कालीन राजनीति को ही वे इस अन्याय के लिए कारणीभूत मानते हैं। समस्या का यह बहुत सरलीकरण हुआ। आज भी हम यही कर रहे हैं। प्रत्येक अन्याय, शोषण अथवा गलत परिणामों के लिए राजनीति को ही कारण मान रहे हैं। पूरी व्यवस्था के प्रति हम या तो मौन हैं अथवा तटस्थ। संभवतः वे ही लोग ऐसी मुद्रा धारण कर लेते हैं जिनके हित संबंध इन व्यवस्था में सुरक्षित हैं।[6]

इसी संदर्भ में राना जी के प्रस्तुत काव्य नाटक की समीक्षा के पूर्व भारतीय इतिहास और इतिहास बोध पर विचार करना उपयुक्त होगा। यों सच्चाई यह है कि भारत इतिहास का नहीं, मिथकों का

देश रहा है, जहां इतिहास नहीं आख्यान रचे जाते हैं। रामायण, महाभारत, पुराण ऐसे ही आख्यान हैं। यद्यपि इन आख्यानों में ठोस और प्रत्यक्ष रूप में इतिहास भले ही न हो किंतु, यहां इतिहास बोध की सतत् उपस्थिति अनुभव की जा सकती है। ये और इनकी अनुषंगी कथायें तत्कालीन और समकालीन जीवन के नाना सत्यों का उद्घाटन करती हैं।[7]

इसमें संशय नहीं है कि इतिहास को देखने की हमारी दृष्टि, हमारे अपने मूल्य बोध, हमारी वर्गीय चेतना, हितों और रुचियों से बनती–बिगड़ती और विकसित होती हैं। यही कारण है कि एक वर्ग विशेष द्वारा अभी तक इतिहास की अधिकांश व्याख्याएं 'हिस्ट्री फ्राम टाप' रही हैं।

महात्मा जोतिराव फुले ने सत्य शोधक समाज के द्वारा पहली बार अतीत पर प्रश्न चिह्न खड़े किये और प्राचीन इतिहास को लेकर जन मानस में संशयात्मक उद्वेलन उत्पन्न किया। परिणामतः पौराणिक घटनाओं, मिथकीय चरित्रों में सदियों से हाशिये पर पड़ा।

स्पष्ट होता है कि अंगूठा एकलव्य का राना जी और उन्हीं जैसे दूसरे लेखक–रचनाकार दलित चेतना से परिचालित होकर पौराणिक कथाओं, मिथकीय चरित्रों और प्राचीन इतिहास को उस जगह से देख और लिख रहे हैं, जिसे 'हिस्ट्री फ्राम बिलो' कहा जाता है। जहां सुई से लेकर वायुयान तक की भव्य अतीत मोह ग्रस्तता नहीं है। अपितु तहखाने के भीतर तहखानों की निर्लज्ज सच्चाइयां मौजूद हैं।

इस बीच 'हिस्ट्री फ्राम टाप' और 'हिस्ट्री फ्राम बिलो' का एक मध्यम वर्ग तेजी से विकसित हुआ, जिसका आग्रह इतिहास को ठीक उसी जगह से देखने का है जहां से वह अपने वस्तु निष्ठ रूप में उजागर होता है। किंतु ज्ञान की दूसरी विधाओं की तरह इतिहास में भी पूर्ण साम्य, पूर्ण तटस्थता सबसे बड़ा भ्रम साबित हुई है। यद्यपि तथ्यों की कठोर प्रस्तुति को ही इतिहास का सर्वोच्च नियम बताने वाले लियो पाल वान रैंक से इन सभी ने अपनी सहमति जताई है।[8]

राना जी अपने इस काव्य नाटक में तथ्यों की इसी कठोर सच्चाई के साथ प्रस्तुत होते हैं। वे इतिहास को वर्तमान की व्याख्या का उपकरण बनाते हैं और वर्तमान की जड़ों को तलाशते हुए इतिहास

के नमी युक्त अंधेरों में उतर जाते हैं। यहां अतीत में विचरते हुए वे न तो अतीत ग्रस्त होते, न ही अतीत त्रस्त। हालांकि जब वे वर्तमान की भयावहताओं के स्त्रोत देवकाल और देव–व्यवस्थाओं में देखते हैं तो देवलोक का छद्म उघड़ने लगता है और कई मोहक भ्रमों से हम निकलने को विवश होते हैं। और भ्रमों के टूटने का दंश भी हमें झेलना होता है।

राना जी एकलव्य को शंबूक की विद्रोही परम्परा में चित्रित करते हैं। दोनो ही विद्या प्राप्ति के लिये विद्रोह का दण्ड भी भोगते हैं। यह वही विद्या है जिसके अभाव को महात्मा जोतिराव फुले मति, गति, नीति और वित के अनर्थ का कारण बताते हैं। विद्या सत्ता का स्त्रोत है। जिसकी वंचना हर प्रकार से सत्ता और अंततः मनुष्य होने की वंचना है। समाज की चालक, परिचालक शक्तियों के इस षड़यंत्र के सूत्रधार यहां आचार्य द्रोण हैं। जो विद्यार्थी एकलव्य को धनुर्विद्या देने से मना करते हुए कहते हैं–[9]

> तुम तो अनार्य/अन्त्यज शूद्र/तुम्हारा तो दास कुल/दासों को शिक्षा नहीं/सेवा नियत है।

सवर्णवादी इस षड़यंत्र का प्रतिरोध एकलव्य का संकल्प है, जो अपनी इस जन्मना आयोग्यता को अपने पुरुषार्थ के बल पर चयन की स्वतंत्रता के लिये चुनौती देता हुआ उद्घोष करता है–

''किस कुल में जन्म हुआ मेरा
इस पर कोई अधिकार नहीं,
पुरुषार्थ बाजुओं में मेरे
इस पर मेरा अधिकार सही।।''

एकलव्य के चरित्र की यह विशेषता है कि किसी तरह का अस्वीकार या तिरस्कार उसे निराश नहीं कर पाता। अपितु अपने संकल्प और धुन का और पक्का कर जाता है। क्योंकि उसके लिये–

''निराशा हताशा तो कायरों के शब्द हैं/
निराशा तो पराजय है/मृत्यु है।

मैं तो आशावादी हूँ
शिव–पथ विश्वासी हूँ
आदिम–अनार्य, मातृ सत्तात्मक
धीर–वीर संस्कृति का।।''

निराशा हताशा तो दूर एकलव्य अपने को सच्चे वीरों की परम्परा का संवाहक मानते हुए कहता है–

''वीर तो काल गति थाम लेता है
रोक, उसे चलाता है
अपनी गति सिंह–सुत्त
मैं भी गति का नियामक बनूंगा।।''

व्यवस्था, विद्या और विद्रोह के इसी त्रिभुज से रानाजी वर्तमान संसार का प्रति संसार रचते हैं। जिसमें –

''युगों से पोषित
पक्षपाती कुत्सित
भावनायें विदीर्ण हों खंड–खंड
सत्य हो प्रज्वलित
मृगशिराशि सूर्य सा।''
(सूत्रधार का निवेदन) पृ.36

किन्तु हर प्रतिकार, प्रति संसार की तरह यह भी बलिदान मांगता है। एकलव्य के नायक होने की यात्रा हृदय विदारक पीड़ाओं, उपेक्षाओं से भरी पड़ी है। इस व्यवस्था में अकेला वही तिरस्कार, बहिष्कार और अपमान नहीं झेलता बल्कि एक पूरा समाज इस अघः पतनी रौरव नरक में उसके साथ भुक्त भोगी है। यह श्रमशीलों की दुनिया है। जिसका खून–पसीना तो मजे से पिया जा सकता है किन्तु जिसकी छाया या छुआ हुआ पानी तक अछूत है।

एकलव्य अपने इस नर्क के लिए हीनता या पाप बोध से पीड़ित नहीं है। अपितु वह संकल्प बद्ध है–

''हां यह संकल्प मेरा/
कि रक्त श्रेष्ठता के
दंश को उखाड़ दूंगा
और अपनी बाहुओं से
इस को पछाड़ूंगा।।''

निश्चय ही यह प्रतिसंसार एक व्यक्ति की व्याकुलता नहीं है। इसलिये वह एक सांस्कृतिक प्रतिरोध की ऊंचाई तक उठता है। जिसकी ध्वजा जन सामान्य के मूल्यों–विश्वासों का प्रतिनिधित्व करती शिव–संस्कृति है। जिसमें सुलेखा, नान्दी, सुणीता और नागदत्त आदि सभी सम्मिलित हैं। यहां रचनाकार इन सभी की सम्मिश्रण से संवेदना का एक ऐसा रसायन तैयार करते हैं, जो निष्क्रिय 'सिम्पैथी' नहीं वरन् सक्रिय 'एम्पैथी' (तदनुभूति) की दशा में ले जाता है। यही इस काव्य नाटक का सामर्थ्य है। यही चरम बिन्दु है। जो दलितोद्धार के लिये नहीं वरन् समाज के पुनर्मानवीकरण की ओर प्रेरित करता है। यहां रचना वे प्रश्न उठाती है जो हमें बहुत देर तक, कुछ दिनों तक बेचैन किये रहते हैं।[10]

नाटक के अंतिम दृश्य में एकलव्य का कटा हुआ रक्त–रंजित अंगूठा ही मानो काल पुरुष के शब्दों में हमारी निद्रा में भी पूरी शिद्दत के साथ पूछता है–

''उनकी व्यवस्था में
जब छूना ही पाप था/
अछूत शूद्र का/
तब क्या हुआ हश्र
रक्त–रंजित उस मांस पिण्ड का?
अंगूठा एकलव्य का
वह भी दायें हाथ का ही
आया किस काम?''

सार रूप में कहें तो पिछड़े, उपेक्षित, दलित, शूद्र अन्त्यजों के साथ स्वाभिमान से अपने मनुष्योचित अधिकारों के हेतु जीने का

संघर्ष करते हुए एकलव्य का आदर्श चरित्र ही उत्तर तलाशने के लिये हमें युगों–युगों तक प्रेरित करता रहेगा।

कला पक्ष पर दृष्टि डालें तो साहित्य में नाट्य विधा को दृश्य और श्रव्य दोनों होने के कारण सर्वोत्तम माना गया है। उल्लेख मिलता है कि नाटक के आदि आचार्य भरतमुनि ने अपनी मंडली के साथ देवलोक में प्रथम नाटक खेला और उपेक्षितों का पक्ष लेते हुए देव–व्यवस्था की आलोचना की। फलस्वरूप वे देव कोप का शिकार हुए। उन्हें अपनी मंडली के साथ देव लोक से बहिष्कृत कर दिया गया। तब से वे मृत्यु लोक में रहते हैं और नाटक रचते–खेलते हैं। भरतमुनि का यह रूपक बड़ा ही अर्थवान है। राना जी ने अनायास नहीं सायास ही तिस्कृत–बहिष्कृत दलित समाज की प्रश्नानुकूलता को अभिव्यक्ति देने के लिए काव्य नाटक का माध्यम चुना है। जिससे वह अभिव्यक्ति वाद–विवाद–प्रतिवाद और संवाद के द्वन्द्वात्मक विकास में अधिक ओजपूर्ण व अर्थ पूर्ण सिद्ध हुई है।

भाषा की प्रांजलता, और संवाद की प्रवाहमयता परिवेश की कुशल सृष्टि करती है। छंद की दृष्टि से भी यह एक सशक्त रचना है। इस काव्य नाटक की एक और विशेषता यह है कि इमसें प्रायः सभी रसों का परिपाक है। तीन अंकों की योजना में दस दृश्य बन्धों का प्रभावकारी विभाजन किया गया है। मंचीय कार्यव्यापार की निरन्तरता एवं रंगयुक्तियों का संयोजन इसे सहज की मंचीयता प्रदान करता है।[11]

स्वयं नाटककार राम नारायण सिंह राना लिखते हैं कि 'अंगूठा एकलव्य का' काव्य नाटक सुधी पाठकों के हाथों समर्पित करने के साथ ही यह आवश्यक है कि द्वापर के सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर एकलव्य के शौर्य पूर्ण जीवन का संक्षिप्त कथानक उल्लिखित किया जाए। साथ ही तत्कालीन समय से वर्तमान समय तक की परिस्थितियों की समीक्षा भी का जाए। क्योंकि हजारों वर्षों से विद्या–बुद्धि पर एकाधिकार जमाए बैठी द्विजवादी–सामन्ती व्यवस्था ने ये तो एकलव्य या ऐसे ही महान अन्य पात्रों पर लेखनी चलाना उचित नहीं समझा या कथानक को तोड़–मरोड़कर मात्र उल्लेख करके यह साबित करने का प्रयास किया है कि अनार्य–निषाद कुलोत्पन्न होकर एकलव्य ने

अस्त्र–शस्त्र विद्या सीखने की धुन में अनाधिकार चेष्टा की थी।[12]

द्विजों–अभिजात्यों का वेद वाक्य रहा है, 'स्त्रीशूद्रों न धीयताम' अर्थात् स्त्री और शूद्र को किसी भी विद्या का अधिकार नहीं है। मात्र श्रम, सेवा और दासता के। तब रक्त श्रेष्ठता दंभ के चलते द्विजवादी मानते रहे हैं कि आर्य क्षत्रिय कुलोत्पन्न अर्जुन की श्रेष्ठता के लिए द्विज द्रोण द्वारा छल से एकलव्य के अंगूठे का काटना (बलिदान) औचित्य पूर्ण था, सही था। जबकि हजारों वर्षों से पिछड़े अनार्य अद्विज–अंत्यत दलितों की पीड़ा व लोक भावनायें इस बात की साक्षी हैं कि इन्होंने न तो भी इसे औचित्यपूर्ण माना और न ही कभी इस जघन्य अपराध के लिये द्रोणाचार्य या इस परम्परा को माफ किया। तथाकथित देवासुर संग्राम से त्रेता द्वापर और आज तक शास्वत, लोकगीत फिर मध्यकाल से लेकर संत साहित्य और अब वर्तमान में अवर्ण–दलित–साहित्य इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं।

एकलव्य का काल महाभारत युद्ध के पूर्व तथाकथित द्वापर के उत्तरार्द्ध का कालखण्ड है। प्रयाग के तटवर्ती प्रदेश में सुदूर तक फैला शृंगबेरपुर राज्य एकलव्य के पिता निषाद राज हिरण्यधनु का राज्य था। गंगा के तट पर अवस्थित शृंगबेरपुर उसकी सुदृढ़ राजधानी थी। उस समय शृंगबेरपुर राज्य की शक्ति मगध, हस्तिनापुर, मथुरा, चेदि और चन्देरी आदि बड़े राज्यों के समकक्ष थी। निषाद राज और उनके सेनापति गिरिबीर की वीरता विख्यात थी।

बालपन से ही अस्त्र–शस्त्र विद्या में बालक की लगन और एकनिष्ठा को देखते हुए गुरु ने बालक का नाम एकलव्य संबोधित किया। किशोर एकलव्य ने अल्प समय में ही अस्त्र–शस्त्र विद्याएं सीख लीं। किशोर अवस्था को पार करते यौवन देहरी तक पग धरते उसने ध ानुर्विद्या में पर्याप्त दक्षता हासिल कर ली। और गुरुकुल से विदा हो पिता के पास वापस आ गया। यद्यपि एकलव्य के मन में धनुर्विद्या की उच्च शिक्षा पाने की प्यास बराबर बनी रहीं, इधर निषाद राज की भी यह इच्छा थी कि राजकुमार धनुर्विद्या की उच्च शिक्षा में निष्णात होकर न केवल राज्य की रक्षा कर सके, वरन् आक्रमणकारियों को मुंहतोड़ जवाब देते हुए अपने राज्य का विस्तार करे। पर इसी समय निषाद राज ने अपनी वय और भावी वंश की कामना

से कुमार का विवाह एक निषाद मित्र की सुन्दर–सुशील कन्या सुणीता जिसका एक नाम रेणुका भी कहा गया है, के साथ सम्पन्न कर दिया। यद्यपि निषाद कुमार की इच्छा अभी गृहस्थ जीवन में प्रवेश की न थी। किंतु पिता की आज्ञा पालन हेतु उसने ऐसा स्वीकार कर लिया। फिर भी एकलव्य का मन अपने लक्ष्य धनुर्विद्या में उच्चतम शिक्षा की ओर ही उन्मुख रहा।[13]

उस समय धनुर्विद्या में गुरु द्रोणाचार्य की ख्याति थी। किंतु विडम्बना यह थी कि वे मात्र अभिजात्य कुलीन आर्य क्षत्रिय सामंत और ब्राह्मण कुमारों को ही शिक्षा देते थे। इस परम्परा की बुनियाद तो पहले से ही पड़ चुकी थी।

इसके आगे कथानक में नाट्य–काव्य का प्रसंग है कि धनुर्विद्या में उच्च शिक्षा पाने हेतु कुमार एकलव्य अपने पिता निषाद राज से आचार्य द्रोण के पास जाने की आज्ञा मांगता है। पिता विचलित हैं कि क्या आर्य द्रोणाचार्य, अनार्य निषाद कुमार को शिष्य बना शिक्षा देना स्वीकार करेंगे? फिर भी एकलव्य का अनुनय देखते हुए वह इस शर्त पर तैयार हो जाते हैं कि माता से आज्ञा लो, यदि वह आज्ञा देती है तो मेरी भी सहमति और आज्ञा समझो।

तब कुमार एकलव्य अंतःपुर में माता के पास आज्ञा मांगने जाता है। और मां के चरण पकड़कर आज्ञा की याचना करता है। एक तो इकलौता राजकुमार, दूसरे विषमता मूलक आर्य–द्विज परम्परा से मां शंकास्पद ही नहीं भयाक्रांत भी है कि शिक्षा धनुर्विद्या तो दूर, कहीं उसके लाल का अनिष्ट न हो जाए। मां बेटे के बीच वार्तालाप से नाट्य–काव्य का कथानक–दृष्टयांकन गति पकड़ता है और अंत 'अंगूठा एकलव्य का' आया किस काम?' इसके आगे कालजयी एकलव्य के शौर्य एवं संघर्षपूर्ण जीवन–वृत के उत्तरार्द्ध कथानक के संबंध में जानना आवश्यक है।[14]

हजारों वर्षों से आज तक देश में व्याप्त उत्पीड़न और सामाजिक अन्याय के विरुद्ध उक्त कविता मेरे विद्रोह का प्रतीक है। जब से मैंने निषाद एकलव्य के संबंध में पढ़ा–जाना, उसकी लगन–साधना, त्याग और शौर्यपूर्ण जीवन से मैं प्रभावित होता गया। पर व्यवस्था द्वारा एकलव्य का घोर अपमान, उसके विरुद्ध षडयंत्र पूर्ण छल

और फिर अंगुष्ठ बलिदान की घटना से मैं बेहद क्षुब्ध रहा। अस्तु सोचता रहा कि एकलव्य के आदर्श चरित्र पर सच्चाई के साथ कुछ लिखा जाए। मानसिक रूप से ये क्रम तो चलता रहा, पर व्यवस्थित कथा–सामग्री का अभाव भी खटकता रहा।[15]

इसी दौरान मुझे पेरियार ललई सिंह यादव कृत 'एकलव्य' पुस्तक पढ़ने को मिली। फिर मुझे डॉ. रामकुमार वर्मा कृत छायावादी खंड काव्य 'एकलव्य' पढ़ने का सुयोग प्राप्त हुआ। माननीय वर्मा जी के 'एकलव्य' को पढ़ने के बाद मेरा मन और भी विद्रोही हो उठा। वर्मा जी वैष्णवी प्रवृत्ति के सहिष्णु मनीषी होने के नाते एकलव्य और गुरु द्रोण के बीच मुझे झूलते से नजर आए। क्योंकि एक तरफ वे एकलव्य की गुरु–भक्ति, लगन–त्याग और बलिदान पर मुग्ध थे, तो दूसरी ओर आचार्य द्रोण के आचार्यत्व और तथाकथित मर्यादा पालन के कायल। फलतः उन्होंने द्रोणाचार्य को कभी भीष्म के अनुशासन तो कभी आचार्यत्व के निर्वहन की परम्परा में अपराधी सिद्ध होने से बचाया।[16]

जनवादियों के रिश्ते सर्वहारा वर्ग से रहे, लेकिन दलितों से नहीं। इस पर गंभीरता पूर्वक विचार करने की आवश्यकता है। 1993 में दिल्ली के कुछ वामपंथी रंगकर्मियों ने 'जन नाट्य मंच की स्थापना की। इनका मकसद था रंगकर्म को जनता के बीच ले जाना। ऐसा उन्होंने इप्टा से प्रेरित होकर किया था। पर देखा गया कि न तो इप्टा ने दलितों के सवाल नाट्य विधा में उठाए और न ही 'जन नाट्य मंच' ने। जाति के सवाल को उन्होंने नजरअंदाज किया।

80 के दशक मे सफदर हाशमी ने भी जोर शोर से नाटकालिक मुद्दों (जाति के सवाल के अलग) पर नुक्कड़ नाटक किये। 2 जनवरी 1989 में उन पर हमला होने के कारण उनकी कला मौन भी हो गई।[17] 1997 में जनम ने अपना एक मोबाइल थियेटर बनाया। 2004 में जनम ने शंबूक वध मंच नाटक खेला।[18] बाद के दौर में देश भर मे अनेक नाटकों तथा मंच नाटकों के प्रदर्शन शहरों और कस्बों में किए गए।

इसी ग्रुप का नाटक 'शंबूक वध', जिसके कथानक के साथ अजीब तरह का ट्रीटमेंट किया गया। संवाद में मसखरापन है, जो दलित

अस्मिता पर चोट करता है। उदाहरण के लिए पृ. 16 पर अयोध्या में प्रवेश का दृश्य देखें –

पुक्कस–3 : पाँव लागू पंडित जी।
पुक्कस–1 : कहां रह गये थे?
पंडित : क्या बताऊँ, धोबने चिपट गईं।
चारों : धोबनें, कितनी?
पंडित : चार
पुक्कस–2 : और आप अकेले!
चारों : ए पंडत (हंसते हैं)
पंडित : छी. छी. मैं तो थूकता भी नहीं उन पर।

क्या इन संवाद से धोबी जाति (जो दलित ही है) की अस्मिता पर चोट नहीं है। लेखक या नाटककार (ब्रजेश) ने केवल चलाऊ संवादों के सहारे दलित नाटक में घुसपैठ करने की चेष्टा की है। इस नाटक में इतिहास नहीं है, शंबूक की पीड़ा नहीं है। इस तरह के नाटकों को दलित साहित्य के सूत्रधार खारिज करते हैं, क्योंकि उनका कोई निश्चित उद्देश्य नहीं है। संक्षेप में कहा जाए तो दलित समाज के पाठकों को भटकाने का यह एक उपक्रम है। इसी तरह के प्रयास एक अन्य सवर्ण (वामपंथी) नाटककार ने अपने नाटक 'हरिजन दहन' में किये हैं। जहां दलितों को हथियार उठाने नहीं, ठाकुरों/राजपूतों के द्वारा लगाई गई आग में जलने–मरने को मजबूर करने के दृश्य दिखाए गए हैं। स्वयं उपाध्याय के अनुसार दलित हैं ही इस स्थिति में।

देवदासी जैसी वीभत्स परम्परा पर हिन्दी में बहुत कम नाटक लिखे गये। शायद इसलिए कि हिन्दू धर्म की परम्परा तथा मान्यताओं से छेड़छाड़ न करनी पड़े। गिरिराज शरण अग्रवाल की एकांकी 'देवदासी' के माध्यम से अंध–विश्वास के विरोध में एक कदम माना जा सकता है।[20] लेकिन वह उतना सटीक नहीं। इस एकांकी में चिदम्बरम नाम का युवक दुर्गा को मन्दिर में देवदासी बनाए जाने से दुखी होकर भाग जाता है। फिर तीस बरस बाद आता है। देवदासी की मां पूछती है–

'क्या तुम प्यार करते थे दुर्गा से?'

चिदम्बरमः हां, माई! बहुत अधिक।

ज्योत्सनाः तब तुम उसे छोड़कर क्यों गए?

चिदम्बरमः स्थिति ऐसी ही उत्पन्न हो गई थी माई! मैं अकेला देवदासी प्रथा और उसके मानने वालों से टकरा नहीं सकता था।[21]

इस तरह से सवर्ण पात्र असमंजस की स्थिति में होता है। वह दलित पात्र की तरह ऐसी क्रूर परम्परा पर हथोड़े से वार नहीं करता।

एक ओर द्रोणाचार्य, पोस्टर जैसे नाटक लिखने वाले नाटककार शंकर शेष हालांकि उदारमतवादी थे, लेकिन उनके नाटकों में भी वैसा विस्फोट हमें नहीं मिलता है। बकौल डा. प्रकाश जाध ाव महाभारत के सन्दर्भों को आधुनिक जीवन से जोड़ने का अनूठा प्रयास नाटककार ने 'एक ओर द्रोणाचार्य' नाटक के माध्यम से किया है।[22] पर महाभारत के सन्दर्भों को आधुनिक जीवन से जोड़ने के कारण इस महत्वपूर्ण नाटक में बिखराव आ गया है। परिण ामस्वरूप महाभारत युग की दलित या शूद्र विरोधी परम्परा अछूती रह जाती है। डॉ. सुनील कुमार लवटे ने इसे अध्यापक की जिंदगी की शोकान्तिका बतलाया है।[23] कहना न होगा कि ऐतिहासिक पात्र दलित के प्रति राम का क्रूर व्यवहार पाठकों से ओझल हो जाता है।

संदर्भ

1. सूर्य नारायण रणसुभे, डॉ. रामकुमार वर्मा जी का कवि व्यक्तित्व, संचारिका व महाराष्ट्र हिन्दी प्रचार सभा की पत्रिका) संयुक्तांकः अप्रैल–मई–जून–2008, मो.क. अग्रवाल हिन्दी भवन, शहागंज, औरंगाबाद 431001, पृ. 5।
2. वही, पृ. 7।
3. वही, पृ. 8।
4. वही, पृ. 9।
5. वही, पृ. 10।
6. वही, पृ. 11।
7. हनुमंत किशोर, प्रति संसार रचता–अंगूठा एकलव्य का, सम्यक प्रकाशन 32/3, क्लब रोड, पश्चिम पुरी, नई दिल्ली–63, 2008।
8. वही, पृ. 13।

9. वही, पृ. 14।
10. वही, पृ. 15।
11. वही, पृ. 17।
12. रामनारायण सिंह राना की लोकप्रिय टिप्पणी 'ज्ञातव्य और ध्यातव्य' से पृ. 18।
13. वही, पृ. 19।
14. वही, पृ. 20।
15. वही, पृ. 21।
16. वही, पृ. 22
17. ब्रजेश, शंबूक वध, जन नाट्य मंच प्रकाशन जे. 147, आर.बी. एन्क्लेव, पश्चिम विहार, नई दिल्ली, पृ. 5।
18. वही, पृ. 7।
19. वही, पृ. 16।
20. गिरिराज अग्रवाल, अंधविश्वास, विरोध के एकांकी, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 15।
21. वही पृ. 16।
22. डॉ प्रकाश जाधव, रंगधर्मी नाटककार शंकर शेष, विकास प्रकाशन, कानपुर, 1990, पृ. 69।
23. नाटककार शंकर शेष, डॉ सुनील कुमार लवटे, पृ. 48।

हिन्दी मराठी दलित रंगमंच
तुलनात्मक अध्ययन

अंग्रेजी साहित्य के प्रचार–प्रसार ने आधुनिक भारतीय भाषाओं के साहित्य को समान रूप से प्रभावित किया है। ज्ञान के नए आलोक से प्रभावित भारतीय शिक्षित समुदाय ने कतिपय क्लब आदि विभिन्न संस्थाओं की संस्थापना कर नाट्यधर्मी रंग–परम्परा को पुनर्जीवित करने की दिशा में स्तुत्य प्रयास किये। इसी का सुफल हिन्दी जगत में व्यवसायिक नाटक मण्डलियों के प्रकाश में आने से हुआ। व्यवसायिक नाटक मण्डलियों ने भारतीय एवं पाश्चात्य नाट्यतंत्र की सम्मिलित धारा का प्रवर्तन किया। अंग्रेजी नाटकों के उपस्थापनार्थ अंग्रेजी द्वारा कलकत्ता तथा बम्बई में कतिपय पारसी–गुजराती लोगों ने कतिपय रंगशालाओं की स्थापना की, जिनमें बम्बई की विक्टोरिया थियेटर, नावेल्टी थियेटर आदि प्रमुख रंगशालाएं हैं। इन रंगशालाओं के मंच पर यदाकदा अन्यान्य भाषाओं की नाट्य रचनाओं के उपस्थापन भी होते रहते थे। मराठी नाट्य–रचनाओं के उपस्थापन के लिए इस प्रारम्भिक युग में पृथकतः कोई रंगशाला नहीं थी। मराठी नाट्य रचनाओं के मंचन के लिए प्रायः रंगशालाओं को किराये पर लेकर अथवा स्वतंत्र रूप से अस्थायी रंगमंच बनाकर प्रदर्शन किये जाते थे। पारसी शैली की नाट्य रचनाओं के कोरस पद्य–बाहुल्य, तुकांत संवाद तथा हास्य के लिए अवान्तर कथा संयोजन पर गुजराती रंगमंच का स्पष्ट प्रभाव है।[1]

हिन्दी के प्रारंभिक नाटकों पर मराठी नाट्यतंत्र का न्यूनाधिक प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है, किन्तु मराठी मंच पर हिन्दी नाटकों के उपस्थापन बंद कर दिये जाने के कारण इसके दूरगामी प्रभाव न

हो सका। पारसी शैली से प्रभावित नाटक तथा हिन्दी की साहित्यिक नाट्य रचनाओं और संस्कृत नाट्य रचनाओं पर संस्कृत नाट्यतंत्र का प्रभाव है।[2] संस्कृत नाटकों के सूत्रधार, मंगलाचरण, प्रस्तावना, आदि की संयोजना हिन्दी नाटकों में उपलब्ध होती है, किंतु मराठी नाटक इससे सर्वथा असंपृक्त ही बने रहे। नाटकों की संवाद योजना, वस्त्र–सज्जा तथा अभिनय में कृत्रिमता हिन्दी–मराठी दोनों भाषाओं की नाट्य रचनाओं में रही है। पारसी प्रभाव के कारण हिन्दी रंगमंच पर चमत्कार प्रदर्शन के लिए रंगसज्जा, ट्रिक विधियों एवं यंत्रों की संयोजना की जाती रही है। रंगदीपन के लिए मशाल, गैस आदि का प्रयोग बादलों की गड़गड़ाहट आंधी आदि के ध्वनि संकेतों के लिए कृत्रिम साधनों–यंत्रों का उपयोग किया जाता था। स्त्री चरित्रों का अभिनय दोनों भाषाओं में पुरुष पात्रों द्वारा ही किया जाता था।

हिन्दी रंगमंच के उक्त विवेचनोपरांत यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यावसायिक और अव्यावसायिक दोनों ही प्रकार की नाट्य मण्डलियों ने हिन्दी के नाट्यधर्मी नाट्य–साहित्य एवं रंगमंच के उत्थान की दिशा में योगदान दिया है। हिन्दी नाटकों की प्रारंभिक अवस्था में स्थायी रंगशालाएं यद्यपि कम ही बनी परंतु अस्थाई रंगशालाओं अथवा विभिन्न रंगशालाओं को किराये पर लेकर नाटकों के उपस्थापन सतत रूप से होते रहे हैं।[3]

अठारहवीं शताब्दी के सातवें दशक तक बंबई में देशी–विदेशी लोगों की संख्या में पर्याप्त अभिवृद्धि हो गई थी।

विष्णुदास भावे आधुनिक मराठी नाटकों के जनक कहे जाते हैं। महाराष्ट्र के 'सांगली' नामक स्थान के रहने वाले होने के कारण इनकी नाटक मण्डली को 'सांगलीकार नाटक मण्डली' तथा विचारकों ने इसे 'हिन्दू ड्रामेटिक कोर' के नाम से भी अभिहित किया है। भावे ने बम्बई के ग्रांट रोड थियेटर में अंग्रेजी नाट्य प्रदर्शन से प्रेरित होकर सन् 1853 में हिन्दी नाटक 'गोपीचन्द' का उपस्थापन किया। नाटक का मंचन अत्यधिक सफल रहा। मराठी से इतर उक्त मण्डली हिन्दी नाटकों का प्रदर्शन भी किया करती थी।[4]

डॉ. उमेश कुमार सिंह[5] का मानना है कि जब हम हिन्दी और मराठी नाटकों पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार करते हैं तो अध्ययन

में एक बात स्पष्ट होती है कि प्रारंभ से ही मराठी नाटक रंगमंच से जुड़े हुए हैं जबकि हिन्दी के प्रारंभिक नाटकों में उनकी मंचीयता की ओर ध्यान नहीं दिया गया था। इस कारण नाटकों का साहित्यिक मूल्य ही बना रहा। जबकि मराठी भाषा में रंगमंच के विकास के साथ नाटकों का विकास अपेक्षाकृत तेजी से हुआ।

जहां तक इन दो भाषा क्षेत्रों में दलित नाटक और नाटककारों की बात है, वे लगभग मिलती–जुलती हैं। हिन्दी और मराठी दलित नाटकों का लेखन और मंचन प्रारंभ से ही होता आ रहा है। इतना ही नहीं स्वयं लेखक नाटकों के मंचन में स्वयं भागीदारी करते हैं। इसका प्रमाण हमारे बीच उपस्थित दो दलित नाटककार मोहनदास नैमिशराय और संजय जीवने जी इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हैं।

डॉ. उमेश कुमार सिंह लिखते हैं कि मोहनदास नैमिशराय तथा संजय जीवने सुप्रसिद्ध समकालीन दलित नाटककार, कथाकार, कवि एवं लेखक हैं। दोनों समकालीन समस्याओं के प्रति सजग हैं। दोनों लेखक रंगमंच की बारीक समझ एवं जानकारी रखते हैं।

संजय जीवने मराठी भाषा के दलित नाटककार के रूप में महाराष्ट्र एवं देश–विदेश में पहचाने जाते हैं तथा मोहनदास नैमिशराय हिन्दी भाषा के दलित कथाकार, कवि एवं नाटककार हैं। दोनों दलित समाज के जागरूक प्रतिनिधि हैं। इन्होंने सच्चे अर्थों में साहित्य और जीवन की एक साथ साधना की है। दोनों नाटककारों की विशेषता इस बात से भी है कि ये नाटक मात्र के रचनाकार नहीं अपितु इनके अनेक नाटकों का मंचन भी हुआ है साथ ही साथ स्वयं रंगकर्मी भी रहे हैं। आज निर्विवाद रूप से यह भी कहा जा सकता है कि संजय जीवने तथा मोहनदास नैमिशराय मराठी तथा हिन्दी दलित नाटककारों में सर्वाधिक लोकप्रिय होने के साथ–साथ शिखर पर हैं।[6]

दोनों नाटककार अपने–अपने क्षेत्र में स्थापित शीर्षस्थ हस्ती हैं तथा सुप्रसिद्ध रंगकर्मी भी हैं। इस कारण से इन दोनों नाटकों को रंगमंचीय महत्व प्राप्त है। इस संसार में इधर–उधर बिखरे पड़े नाटकों के दृश्यों को समेटकर अपनी दृष्टि से नाटक रचने वाले इन नाट्यकर्मियों को स्वयं बहुत से संघर्षों का अनुभव हुआ है। दोनों नाटककारों ने अनेक नाटक लिखे हैं। इसमें मोहनदास

नैमिशराय के हैलो कामरेड, अदालतनामा, मुझे खरीदोगे तथा डेढ़ इंच मुस्कान आदि प्रमुख हैं। इसके अलावा उन्होंने रेडियो, दूरदर्शन तथा फिल्म के लिए भी लिखा है। संजय जीवने ने लगभग एक सौ से अधिक नाटक लिखे हैं। जिनमें मुख्यतः समर, सूर्योदय, संविधान, पटाचारा एवं नक्सलाइट आदि प्रमुख हैं। दोनों लेखकों के नाटकों का तुलनात्मक अध्ययन स्वतंत्र शोध प्रबंध की मांग करता है। हैलो कामरेड और सूर्योदय दो भिन्न भाषाओं के नाटक हैं फिर दोनों नाटकों में इस स्वतंत्र भारत में दलितों की समस्या से साक्षात्कार करवाया गया है।

हैलो कामरेड में ग्रामीण परिवेश के स्थान पर शहरी परिवेश दिखाया गया है। उससे प्रतीत होता है लेखक कहना चाहता है कि गांव दूर होते हैं। वहां दलित नारकीय जीवन जीने को मजबूर होते हैं। सरकार की पहुंच भी हर गांव तक हो यह संभव नहीं है। वहां अत्याचार, बलात्कार, सामाजिक शोषण होना, स्वाभाविक समस्याएं हो सकती हैं परन्तु लेखक ने शहर के बीचों–बीच रहने वाले दलितों के साथ अत्याचार, बलात्कार तथा अन्याय आज भी हो रहा है, यह अपने नाटक हैलो कामरेड में दर्शाया है। जब दलित न्याय न मिलने के अभाव में स्वयं प्रतिशोध लेते हैं तब उन्हें ही पकड़ लिया जाता है।[7]

लेखक ने हैलो कामरेड का प्रारंभ शहर के बीचों बीच दलित बस्ती में हो रही मुनादी से किया है जिसमें एक नेता का आगमन होता है। नेता कैसे गरीबों के आंसू पोंछता है। मजदूर लेखक अपने पेट की खातिर भाषण लिखता है। उसे कम मजदूरी के साथ उल्टे उलाहना दी जाती है। भाषण ठीक नहीं लिखा है। लोगों पर भाषण का कम असर हुआ था। यह बातें लेखक ने दिखाई हैं। मुझे लगता है लेखक इसका भुक्तभोगी रहा है।

इस नाटक का अंत विमला के साथ हुए बलात्कार के प्रति उत्तर में बलात्कारी के खून से किया गया है। एक दलित व्यक्ति जो अपनी बहन के साथ हुए बलात्कार के प्रतिशोध की आग में जलकर खून करता है तब शीघ्र ही पुलिस उसे पकड़ लेती है। लेखक ने देश के कानून पर भी प्रश्न चिन्ह लगाया है।

हैलो कामरेड (हिन्दी) और सूर्योदय (मराठी) दोनों नाटकों में दलितों की स्थिति सोचनीय है। दोनों में स्थिति लगभग समान है। संजय जीवने द्वारा सूर्योदय नाटक, आजादी की स्वर्ण जयंती के अवसर पर लिखा गया है। नाटक के प्रारंभ में लोग कहते हैं आजादी की स्वर्ण जयंती का सूर्योदय हो गया है। तब नाटक में सूत्रधार कहता है कि आज़ादी, किसकी आज़ादी की स्वर्ण जयंती है? जनता तो गुलामी भुगत रही है। इतना ही नहीं उस स्वर्ण जयंती वर्ष में, भारत रत्न बोधिसत्व डॉ. अम्बेडकर की प्रतिभा का अपमान क्यों किया जा रहा है। राष्ट्र भक्त भीम सैनिक जब सिंह गर्जना करते हैं तब उनका नरसंहार क्यों किया जाता है? आज इस पर्व को कलंकित करने वालों का संघ आज़ाद कैसे रह सकता है?

लेखक कहना चाहता है कि पूरे तंत्र पर इन्हीं लोगों का नियंत्रण है। वह चाहे टी. वी. चैनल हो, सैटलाइट, दूरचित्रवाहिनी सभी पर पूंजीपतियों का हमला है। वर्ल्ड बैंक, आई.एम.एफ. की सत्ता पूंजीपतियों के हाथों में है। लेखक ने इस नाटक में देश को व्यक्ति के रूप में दिखाया है। आम–आदमी अर्थात् दलित व्यक्ति देश की निरीह जनता है। जब इंसपैक्टर बलात्कार और खून के जुर्म में बेकसूर व्यक्ति को फंसाता है तब वह उस व्यक्ति से नाम पूछता है नाम बता? जवाब भारत। उम्र? पचास साल। रहता कहां था? इसके उत्तर में व्यक्ति कहता है कि मैं सिन्धु नगरी में सिन्धु संस्कृति में रहता था। वहां की नाग संस्कृति, अनार्य संस्कृति थी।

लेखक संजय जीवने दलितों को पूरा इतिहास इसलिए बताते हैं कि जो लोग इतिहास भूल जाते हैं वह अपना वर्तमान भी नहीं संभाल सकते हैं। इतिहास ही तो वह पाठ है, जो आपको उत्तेजित कर आपको आगे बढ़ने के लिए लक्ष्य निर्धारित करता है। अंत में पूरे होश में, आशा के साथ, हर परिस्थिति में दृढ़ निश्चय के साथ कहता है। सूर्योदय तो होगा ही।[8]

दोनों लेखक भिन्न–भिन्न भाषा और अलग–अलग प्रदेशों में रहकर भी देश और समाज की समस्याओं के प्रति चिंतित हैं। इन दोनों नाटकों में अन्याय और अत्याचार होते हुए दिखाया गया है। दोनों अपनी लेखनी के बल पर समाज में बदलाव लाना चाहते हैं।

दोनों नाटकों का अंत समान प्रतीत होता है विमला का भाई अजय जब हैलो कामरेड में बलात्कार करने वाले, अपराधी अरविन्द का खून करके उसे दण्ड देता है वहीं सूर्योदय में दलितों को अपने इतिहास के प्रमाण सिन्धु संस्कृति, बौद्ध धम्म एवं दलितों पर हुए अत्याचार तथा प्रमुख घटनाओं का जिक्र करके उन्हें जगाता है। उनमें प्राण वायु फूंकता है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों नाटककार यह बताने का प्रयास करते हैं कि भारत में दलितों को न्याय, सम्मान तथा अधिकार आदि मिलने में अभी देर है।[9]

महाराष्ट्र में विश्वविद्यालय स्तर पर फिल्म, थियेटर तथा दलित साहित्य की विधाओं से विद्यार्थियों तथा शोधार्थियों से परिचय कराने की स्वस्थ परम्परा रही है। मुंबई, औरंगाबाद, पुणे, नागपुर, वर्धा आदि में तो थियेटर विभाग हैं, जबकि हिन्दी क्षेत्रों में जो विश्वविद्यालय हैं, उनमें थियेटर विभाग बहुत ही कम हैं। और इस विधा की त्रासदी यह रही है कि देश की राजधानी में राष्ट्रीय नाट्य संस्थान (एन.एस.डी) से लेकर हिन्दी राज्यों में जो सरकारी तथा गैर सरकारी अकादमी और संस्थाएं हैं, वह दलित नाटककारों तथा रंगकर्मियों से उदासीनता बरती जाती है। विशेष रूप में देखा जाए तो महाराष्ट्र और हिन्दी राज्यों में हुए सांस्कृतिक और सामाजिक आन्दोलन में भी फर्क है। बाबा साहेब डॉ अम्बेडकर वहां प्रेरणा पुरुष थे। उनकी स्मृतियों से दलित नाटककारों तथा रंगकर्मियों ने बराबर रिश्ते बनाए रखे। उन रिश्तों की डोर पकड़ कर ही मराठी दलितों के बीच से नई पीढ़ी के रंगकर्मी आगे बढ़ते गये। उदाहरण के लिए 70 के दशक में दलित पैंथर के उद्भव और विकास तथा 80 के दशक में बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर विश्वविद्यालय के लिए नामांतरण आन्दोलन ने मराठी दलित कवियों/कथाकारों के साथ नाटककारों को भी अच्छी खासी ऊर्जा दी। वे लेखन के साथ संघर्ष करने की स्थिति में आये। जबकि हिन्दी राज्यों में दलित उत्पीड़न की घटनाओं के खिलाफ दलित लेखक/नाटककार लामबंद तो हुए, उन्होंने संघर्ष भी किया। लेकिन उनके संघर्ष की गूंज उतनी दूर तक नहीं जा सकी। प्रिंट मीडिया में उनके संघर्ष की बानगी को कम महत्व दिया गया। हालांकि हिन्दी राज्यों में अगर लिखे गये

और मंचन किये गये नाटकों की गिनती की जाए तो वे एक सौ से अधिक ही होंगे। वह बात अलग है कि उनमें से अधिकांश गांव/कस्बों में रहने वाले लेखकों ने ही तैयार किये। जिनके प्रति समीक्षकों की भी उदासीनता रही।

संदर्भ

1. रंगमंच लोकधर्मी नाट्य धर्मी, के.एल. पचोरी प्रकाशन, 1992, पृ. 104।
2. वही, पृ. 105।
3. वही, पृ. 34।
4. वही, पृ. 35।
5. डॉ, उमेश कुमार सिंह के शोध पत्र से पृ. 1, वे महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय केन्द्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय में सहायक प्रोफेसर रहे हैं।
6. वही, पृ. 2।
7. वही, पृ. 3।
8. वही, पृ. 4।
9. वही, पृ. 5।

अंततः

जहां तक हिन्दी क्षेत्र और भूभाग की बात है, उसके अंतर्गत राज्यों, महानगरों, शहरों और गांव, कस्बों की बात अलग है। वहां के संस्कार तथा परम्पराएं अभी भी दलित नाटककारों तथा रंगकर्मियों का रास्ता रोके खड़ी हैं। सवर्ण नाटककारों के अपने मिथक और स्मृतियां हैं, उनके नाटक उनसे अधिक प्रभावित हैं। जबकि दलितों की दुनिया में अभी भी दुख और पीड़ा है। आदर्श की बात छोड़कर देखें तो स्थिति कोई बहुत अच्छी नहीं है, सिवाय इसके कि थियेटर से सम्बन्धित सरकारी संस्थानों में सवर्ण कलाकारों का अभी भी लगभग दबदबा है। हालांकि दलित कलाकारों की हिस्सेदारी भी बढ़ी है। उन्हें उनकी प्रतिभा विकसित होने में मदद मिली है। यह थोड़ा ही सही, पर संतोष की बात है। गुरूदत्त पांडे के अनुसार समीक्षक नाटक देखने और उस पर बहस करने से अच्छा निर्देशक द्वारा लिखित समीक्षा छापकर अपने कर्त्तव्य की इतिश्री कर लेता है। सबके अपने–अपने उद्देश्य हैं, कुछ उन्हीं दायरों के अंदर रहकर छटपटाते हैं, हालांकि वे कुछ करना भी चाहते हैं। और करते भी हैं। राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के तहत कुछ अच्छे और सफल नाटकों का मंचन तो हुआ है, लेकिन ब.व. कारन्त की तरह जयशंकर प्रसाद या आज के युवा नाटककारों की मौलिक कृतियों को मंच पर लाने की चुनौती स्वीकार करने का साहस नहीं जुटा पाते। दलित नाटककारों को तो हरगिज़ नहीं। हिन्दी रंगमंच के बारे में अंग्रेज़ी में साक्षात्कार देने का तो उन्हें वक्त है लेकिन हिन्दी रंगमंच की वर्तमान स्थिति के बारे में रंगकर्मियों के साथ संवाद स्थापित करके स्वयं में सुधार करना नहीं चाहते।

देखा जाए तो हिन्दी रंगमंच आज के दौर में संवादहीनता की स्थिति से उबरने का प्रयास कर रहा है। पर हमारी राय में रंगमंच की स्थिति उतनी संकट में नहीं है। अभी पिछले दो बरस पूर्व एन.एस.डी, नई दिल्ली को कलाकारों की मदद हेतु फोर्ड फाउंडेशन ने बड़ी मात्रा में राशि प्रदान की है। अब इस में दलित विद्यार्थियों का कितना भला होगा, इस पर सोचना चाहिए। वैसे भी दलित विषयों पर राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय ने बहुत कम ही प्रस्तुतियां दी हैं। उम्मीद की जाती है कि दलित नाटकों की प्रस्तुतियों में जहां इजाफा होगा वहीं उन प्रस्तुतियों के बहाने निर्देशन से कास्टयूम–डिजाइनिंग तक में दलित रंगकर्मियों की हिस्सेदारी बढ़ेगी।

3 अगस्त 2009 की शाम इंडिया हैबीटेट सेंटर के सभागार में जब प्रख्यात लेखिका महाश्वेता देवी ने समकालीन रंगमंच के प्रमुख भारतीय नाटककार विजय तेंदुलकर को दूसरा कथा चूड़ामणी सम्मान प्रदान किया। विजय तेंदुलकर ने अपने वक्तव्य में कहा भी था, मुझे हमेशा इस बात का अपराध–बोध रहता है कि मेरे लेखन की बदौलत मुझे सम्मान तो बहुत मिलता है, लेकिन उससे मैं किसी एक व्यक्ति का भी जीवन नहीं बदल सका, हम जो केवल लेखक हैं, हमने क्या किया, एक डॉक्टर, इंजीनियर, राजनेता, वैज्ञानिक, शिक्षक बनकर कम से कम कुछ लोगों की जिंदगी में बदलाव तो लाया जा सकता है। एक लेखक तो कुछ भी नहीं कर सकता। लिखते समय मेरा शक्तिशाली होना और बाहर की दुनिया में शक्तिहीन हो जाना लेखक के रूप में बड़ी विडम्बना है।''

इस विडम्बना को दलित साहित्य और दलित रंगमंच ने दूर करने के प्रयास किये हैं। दलित नाटक और उसकी प्रस्तुतियां समाज परिवर्तन की प्रतीक रहीं हैं। दलित साहित्य का उद्देश्य समाज को बदलना ही है। दलित नाटकों ने चाहे महाराष्ट्र में हो या हिन्दी राज्यों में, समाज बदलने के साथ दलित समाज को उसके मान–सम्मान से रू–ब–रू कराया है। उसे उसके इतिहास से ही परिचय नहीं कराया बल्कि वर्तमान में उसे क्या करना चाहिए यह भी उसे बताया है। उसके भीतर से उसके अंधविश्वास, अंधश्रद्धा तथा अमानवीय परम्पराओं की गांठे पड़ी थीं, उनको खोला है तथा उनसे

मुक्ति दिलाई है तमाम तरह के जुल्म और अत्याचारों से।

अश्विनी कुमार पंकज के शब्दों में अगर हम स्वीकार करें कि साहित्य और कलाएं किसी भी समाज या जाति के आत्म–साक्षात्कार की संवेदनात्मक प्रक्रियाएं हैं, तो इसी के साथ यह बात भी हमें ईमानदारी से स्वीकार करनी होगी कि हिन्दी रंगमंच इस कसौटी पर बहुत खरा नहीं उतरता। गुजरे दशक की रंगमंचीय प्रस्तुतियां प्रस्तुत कथन को बल ही नहीं देती वरन् इस बात की भी पुष्टि करती है कि अपने समय और समाज के सत्य से साक्षात्कार की प्रवृत्ति और गहरा सांस्कृतिक जुड़ाव हिन्दी रंगमंच में एक सिरे से गायब रहा है। हालांकि यह स्थिति केवल रंगमंच के साथ ही नहीं है बल्कि तमाम कला विधाओं के साथ है। कारण कि हिन्दी समाज आत्मान्वेषण और आत्म साक्षात्कार से बचने की प्रवृत्ति वाला समाज हो गया है, और अपनी कलाओं, साहित्य तथा रचनाकारों के साथ उसका कोई गहरा, अंतरंग और सृजनात्मक रिश्ता नहीं बचा है, ऐसे में यह अस्वाभाविक नहीं कि अपनी प्रक्रिया में ही सामाजिक चरित्र होने के कारण रंगमंच उस समाज में अपनी कोई विशिष्ट पहचान न बना पाए।

लेकिन यह भी सही है कि अगर हिन्दी रंगमंचीय संस्थाओं में रंगमंच के विकास की दिशा में शुरूआत में ही सचेत प्रयास किया होता तो आज स्थिति कुछ और ही होती। क्योंकि क्षेत्रीय रंगमंच के विकास के साथ ही जुड़ा हुआ है हिन्दी रंगमंच का भविष्य। हमारा क्षेत्रीय रंगमंच जितना अधिक विकसित होगा, हिन्दी रंगमंच की स्थिति उतनी ही अधिक सुदृढ़ होगी।

बहरहाल, दलित समाज में विकसित होती रंगचेतना इस बात का पुख्ता सबूत है कि रंगमंच को यदि हमारी सांस्कृतिक अनिवार्यता होना है तो ऐसा वह अपने सांस्कृतिक उत्तरदायित्व की पूर्ति करके ही कर सकता है और यह उत्तरदायित्व भी उसे ऐसी परिस्थिति में निभाना है जहां समाज को प्रभावित करने वाली आर्थिक राजनीतिक ताकतें न केवल उसे किसी प्रकार के आत्मान्वेषण की प्रक्रिया में नहीं पड़ने देना चाहती। इसलिए वे कला–प्रक्रियाओं को भी एक स्थूल मनोरंजन मात्र बना कर रख देना चाहती है। इसी के साथ यह बात भी गौरतलब है कि जिस दलित रंगमंच के विकास की बात हम

करते हैं उसका प्रस्फुटन दलित समाज के अंदर से ही संभव है और अनुसूचित जाति, जनजातीय कला–रूपों व लोक संस्कृति से जुड़कर ही इस अवरुद्ध सांस्कृतिक प्रक्रिया की नई गति दी जा सकती है। क्योंकि किसी भी समाज के आत्म–साक्षात्कार का माध्यम बन सकने के लिए उस समाज की संवेदन–प्रक्रिया और सम्प्रेषण–प्रक्रिया में से गुजरना जरूरी है। दूसरे शब्दों में लोकचित्र को जाने बिना हम उस समाज के साथ कोई वास्तविक सम्प्रेषण कायम नहीं कर सकते। इसलिए अत्यल्प या छिटपुट प्रयासों से किसी सुखद या सन्तोषजनक परिणाम की उम्मीद नहीं की जा सकती। आवश्यकता ऐसे तमाम प्रयासों के बीच रंग संवाद बनाए जाने और इनका नैरन्तर्य बनाए रखने की है।

आज हिन्दी रंगमंच को सुनियोजित आन्दोलन की तरह रंगकर्म और व्यापक बहस की आवश्यकता है। ऐसी बहस जिसमें नाटककार, रंगकर्मी, नाट्य–समीक्षक, साहित्य समीक्षक और दर्शक सभी शामिल हों। हिन्दी के मौलिक नाटकों की निरन्तर प्रस्तुतियां हों। नए और युवा नाटककारों की रचनाओं की व्यापक समीक्षा हों, जो उन्हें अच्छा और नया लिखने को प्रेरित करें। विश्वविद्यालयों में मौलिक हिन्दी नाटकों के मंचन सम्बन्धी अनुभवी शिक्षकों से संवाद का अच्छा अवसर प्राप्त हो। संवादहीनता का शिकार हिन्दी रंगकर्म तभी प्रतिष्ठित हो सकेगा जब रंगकर्मी, नाटककार, साहित्य और शिक्षा जगत के आलोचक निजी विवशताओं और आवश्यकताओं से ऊपर उठकर एक साथ काम करेंगे।

संदर्भ

1. गुरूदत्त पांडे, हिन्दी रंगमंच और नाटककारः संवादहीनता के शिकार, कथाक्रम, जनवरी–मार्च 2003, पृ. 98।
2. अजीत राय, विजय तेंदुलकर का सम्मान, हंस, अक्टूबर 2001।
3. कतार, धनबाद, जनवरी 1996, पृ. 243।